विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

मध्य प्रदेश के साहित्यकार दल की हिमाचल यात्रा के दौरान रोरिक गैलरी (कुल्लू घाटी) के प्रांगण में (खड़े) परमदेव, देवताले, कमला प्रसाद, विनोद कुमार शुक्ल, सत्येन कुमार मंजूर एहतेशाम, भगवत रावत, शशांक, ध्रुव शुक्ल, अजीत चौधरी, (बैठे) पूर्ण चन्द्र रथ, राजेश जोशी, नरेन्द्र जैन व तुलसी रमण

शिमला में रात्रि भोज पर : रश्मि वाजपेयी, अशोक वाजपेयी, सागर चंद नैयर (शिक्षा, संस्कृति मंत्री हि.प्र.) महाराज कृष्ण काव

मुख पृष्ठ : चित्र—सुरजीत सिंह

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-3, अंक-18, जनवरी-फरवरी, 1988

मुख्य संपादक
श्रीनिवास जोशी
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

पाठकीय

अंक सोलह

चन्द्रमणि (दिल्ली)

विपाशा का अंक सोलह प्राप्त हुआ, डॉ० रामविलास शर्मा का साक्षात्कार देकर आप ने निश्चय ही सराहनीय कार्य किया है। कोरियाई कहानी एक और उपलब्धि है—'विपाशा' की। देश-विदेश के साहित्य से यदि आप नियमित रूप से अपने पाठकों को लाभान्वित करने की नीति बना लें—तो इससे पाठकों को बहुत लाभ होगा।

इन्दु शर्मा (ग़ाज़ियाबाद)

अंक सोलह में जिया सिद्दीकी, लाल्टू, केशव की कविताएं बहुत अच्छी लगीं। 'चयन' में महादेवी वर्मा को स्थान देकर आपने सही स्मरण किया है। पत्रिका दिनों-दिन आकर्षक, सुन्दर एवं ज्ञानवर्द्धक हो रही है। साधुवाद !

रोहितश्व (बंगलौर)

आपकी पत्रिका 'गागर में सागर' मुहावरे का चरितार्थ करती जान पड़ती है अंक सोलह में कोरियाई कहानी, डॉ० रामविलास शर्मा का साक्षात्कार जोजफ ब्रादस्की की कविताएं मौलूराम ठाकुर का लेख 'विपाशा के आर-पार' इस अंक को महत्वपूर्ण बना देते हैं। इसी उत्साह से जुटे रहिए। शुभकामनाएं।

राजेश (धर्मशाला)

विपाशा का अंक सोलह प्राप्त हुआ। आवरण पृष्ठ सुन्दर ही नहीं—प्रदेश की संस्कृति एवं कला को जिस ढंग से अभिव्यक्त करते हैं—उससे 'विपाशा' का प्रत्येक अंक संग्रहणीय बन जाता है।

धर्मपाल रेखी (होशंगाबाद)

'विपाशा' के कई अंक देख चुका हूं। मेरे पास अन्य राज्यों से भी सरकारी पत्रिकाएं आती हैं—समझ में नहीं आता कि आपकी पत्रिका इतनी आकर्षक एवं साहित्यिक क्यों बनी हुई है। क्या यह पत्रिका सरकार के अधीन नहीं या हिमाचल सरकार हिन्दी साहित्य के प्रति कुछ अधिक ही संवेदनशील है। या सरकार की नजर अभी तक इस पत्रिका पर नहीं पड़ी। मुझे समझ में न ही आए और 'विपाशा' इसी प्रकार आगे बढ़ती रहे—इन्हीं शुभकामनाओं के साथ !

सुनील शर्मा (सोलन)

विपाशा में डॉ० रामविलास शर्मा का लम्बा साक्षातकार बहुत महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। एक बहु-विध वरिष्ठ रचनाकार और अनेक विधाओं के विद्वान से काफी खुलकर इसमें बात हो सकी है। अनेक रचनाकारों के अब तक हुए मूल्यांकन से हटकर भी रामविलास जी ने काफी बेबाक बातें कही हैं। मसलन कुछ प्रगतिशील समझे जाने वाले कवियों को प्रगतिशील कवि न मानता

क्रम

पाठकीय

अंक सोलह

चन्द्रमणि (दिल्ली)

विपाशा का अंक सोलह प्राप्त हुआ, डॉ० रामविलास शर्मा का साक्षात्कार देकर आप ने निश्चय ही सराहनीय कार्य किया है। कोरियाई कहानी एक और उपलब्धि है— 'विपाशा' की। देश-विदेश के साहित्य से यदि आप नियमित रूप से अपने पाठकों को लाभान्वित करने की नीति बना लें—तो इससे पाठकों को बहुत लाभ होगा।

इन्दु शर्मा (ग़ाज़ियाबाद)

अंक सोलह में जिया सिद्दीकी, लाल्टू, केशव की कविताएं बहुत अच्छी लगीं। 'चयन' में महादेवी वर्मा को स्थान देकर आपने सही स्मरण किया है। पत्रिका दिनों-दिन आकर्षक, सुन्दर एवं ज्ञानवर्द्धक हो रही है। साधुवाद !

रोहितश्व (बंगलौर)

आपकी पत्रिका 'गागर में सागर' मुहावरे का चरितार्थ करती जान पड़ती है अंक सोलह में कोरियाई कहानी, डॉ० रामविलास शर्मा का साक्षात्कार जोजफ ब्रादस्की की कविताएं मौलूराम ठाकुर का लेख 'विपाशा के आर-पार' इस अंक को महत्वपूर्ण बना देते हैं। इसी उत्साह से जुटे रहिए। शुभकामनाएं।

राजेश (धर्मशाला)

विपाशा का अंक सोलह प्राप्त हुआ। आवरण पृष्ठ सुन्दर ही नहीं—प्रदेश की संस्कृति एवं कला को जिस ढंग से अभिव्यक्त करते हैं—उससे 'विपाशा' का प्रत्येक अंक संग्रहणीय बन जाता है।

धर्मपाल रेखी (होशंगाबाद)

'विपाशा' के कई अंक देख चुका हूं। मेरे पास अन्य राज्यों से भी सरकारी पत्रिकाएं आती हैं—समझ में नहीं आता कि आपकी पत्रिका इतनी आकर्षक एवं साहित्यिक क्यों बनी हुई है। क्या यह पत्रिका सरकार के अधीन नहीं या हिमाचल सरकार हिन्दी साहित्य के प्रति कुछ अधिक ही संवेदनशील है। या सरकार की नजर अभी तक इस पत्रिका पर नहीं पड़ी। मुझे समझ में न ही आए और 'विपाशा' इसी प्रकार आगे बढ़ती रहे—इन्हीं शुभकामनाओं के साथ !

सुनील शर्मा (सोलन)

विपाशा में डॉ० रामविलास शर्मा का लम्बा साक्षातकार बहुत महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। एक बहु-विध वरिष्ठ रचनाकार और अनेक विधाओं के विद्वान से काफी खुलकर इसमें बात हो सकी है। अनेक रचनाकारों के अब तक हुए मूल्यांकन से हटकर भी रामविलास जी ने काफी बेबाक बातें कही हैं। मसलन कुछ प्रगतिशील समझे जाने वाले कवियों को प्रगतिशील कवि न मानना

आदि। दरअसल हो यह रहा है कि हम रचनाकारों को एक बार जिस धारा से जोड़ देते हैं आगे यह मानकर चलने लग जाते हैं कि बस उसी में बहे जा रहे हैं। इस तरह के मूल्यांकनों में बांध कर चलने से न तो सही स्थिति सामने आ पाती है और न ही रचनाकार के साथ न्याय होता है। इस साक्षात्कार में लीक से हटकर काफी बातें हुई हैं, जो सोचने को मजबूर करती हैं। इसी में बातचीत की सार्थकता भी है।

अनुपम शर्मा (नाहन)

नाहन में आयोजित गुलेरी जयन्ती की रिपोर्ट पढ़कर यह विश्वास हुआ कि विपाशा में सरकारी आयोजनों की भूरि-भूरि प्रशंसा नहीं की जाती बल्कि वास्तविकता को भी सामने लाया जाता है। इसी तरह तृतीय नाटक उत्सव का मूल्यांकन भी निरपेक्ष जान पड़ता है। इस अंक में कुछ प्रूफ की अशुद्धियां भी रह गयी हैं जिसके कारण कहीं लेखकों के नाम ही गलत हो गये हैं।

विवेक वर्मा (चंडीगढ़)

हिमाचल के कलाकारों पर श्री हरिश्चन्द्र राय के जो लेख आ रहे हैं उनसे कलाकारों का परिचय तो मिलता है लेकिन उनकी कला पर समीक्षात्मक टिप्पणी नहीं दिखाई देती। कलाकारों को संतुष्ट करने के लिए तो संभवतः यह काफी हो लेकिन कला पर कोई स्वस्थ बहस इससे नहीं हो पा रही। हां, एक तरह की सूचनात्मक कॉवरेज इससे अवश्य हो जाती है।

राजेन्द्र मल्होत्रा (शिमला)

नरेश पंडित की 'घाल्लू' और वीरेन्द्र जैन की 'ओ हरामजादे' दोनों कहानियां अच्छी हैं। समीक्षा में जहां श्रीनिवास श्रीकांत गहरी समझ के साथ बात करते हैं वहीं फूलचंद मानव ने बहुत सतही रूप में विवरण प्रस्तुत किये हैं। संभवतः कविताओं के स्तर के मुताबिक ही समीक्षाएं भी रही हैं।

आशीष डोगरा (जम्मू)

विपाशा के माध्यम से हिमाचल के कई ऐसे कलाकारों का परिचय भी मिल रहा है जिनका अब तक कहीं नाम तक नहीं सुना। प्रदर्शनियों की रिपोर्ट और लेखों से ऐसा जान पड़ता है कि बहुत व्यापक स्तर पर काम हो रहा है लेकिन बावजूद इसके ऐसा क्या कारण है कि ये सारी प्रतिभाएं काफी हद तक अपने में ही सिमटी हैं। वैसे दूरदराज के क्षेत्रों में कलाकार बराबर पिछड़ते रहे हैं लेकिन शिमला तो राष्ट्रीय ही क्या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जाना जाता है। अमृता शेरगिल जैसे कलाकार यहां रहते आए हैं। कलाकारों को वहां रहते हुए तो कोई पिछड़ने जैसी दिक्कत नहीं होनी चाहिए। आवरण में आप कला-विधाओं को समेटने की कोशिश करते हैं यह अच्छी बात है। कला के कुछ गिनती के समीक्षकों की मोनाप्ली तोड़ने के लिए कुछ सही समझ के ऐसे आलोचकों को भी आगे लाया जा सके, जो दूसरी विधाओं से भी भली प्रकार परिचित हों तो प्रत्रिका भी सार्थक हो सकेगी।

देव प्रकाश राही (अंबाला)

इस अंक में कोरियाई कहानी बहुत मार्मिक लगी। हिन्दी की दोनों कहानियां भी अच्छी हैं। डॉ० रामविलास शर्मा से लम्बी बातचीत हिन्दी साहित्य को ऐतिहासिकता में जानने, समझने की दिशा में तो सार्थक हीं है इससे यह बहस के रूप में भी आगे बढ़ सकती है। विशेष रूप से कुछ ऐसे मुद्दों को लेकर जहां डाक्टर साहब ने कुछ कवियों की यथार्थ दृष्टि पर ही एक तरह से नये सिरे से सोचने के लिए मजबूर किया है।

संपादकीय

सृजनानुभव और संवाद

इस अंक की 'निधि' में एक ऐसा रचनाकार प्रस्तुत है जिसने केवल उनतालीस वर्षों का जीवन पाया और उसमें से लगभग एक तिहाई बचपन को छोड़कर शेष लेखन के लिए समर्पित रहा। समर्पित इस दृष्टि से भी कि अपने अल्प जीवन में ही इन्होंने एक सौ पचास से भी ज्यादा पुस्तकें लिख डालीं और वह भी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में। सृजनात्मक साहित्य से लेकर विभिन्न ज्ञान-विद्याओं तक विस्तार पाने वाला यह रचनाकार है—रांगेय राघव। संस्कृत से लेकर विदेशी भाषाओं तक के प्रभूत महत्व पूर्ण साहित्य का अनुवाद भी रांगेय राघव ने किया है। परिचय टिप्पणी के साथ इस रचनाकार की कुछ रचनाएं उदाहरण स्वरूप इसमें दी गयीं हैं, जिससे उनके बहुआयामी सृजन और जीवन से गहरे जुड़ाव व चिंतन के साथ एक छोटा-सा साक्षात् हो पाएगा।

□

केन्द्रीय संगीत-नाटक अकादमी की एक योजना के तहत अन्तर्राज्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नाम पर लगभग सभी प्रदेशों के सांस्कृतिक दलों की पिछले कई वर्षों से जो परस्पर यात्राएं होती रहीं हैं, इस माध्यम से निष्पादन कलाओं से जुड़े लोगों को ही अपने प्रदेश से बाहर निकल कर घूमने तथा देश के अन्य प्रान्तों के संस्कृति-कर्मियों से मेलजोल व विचार-विमर्श के अवसर मिल पाते हैं। इनमें भी अधिकांश रूप से लोक-नर्तक व गायक ही शामिल रहते हैं जो कुछ प्रमुख जगहों पर अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करके अपने प्रदेश लौट आते हैं।

इधर यह महसूस किया गया कि इसी आधार पर साहित्यकारों की अन्तर्राज्य यात्राएं अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी। सृजन से जुड़े लेखकों का सामासिक सांस्कृतिक छवि वाले अपने विशाल देश के जनजीवन से साक्षात्कार के साथ इससे विभिन्न अंचलों के रचनाकारों के बीच एक तरह का संवाद भी जुड़ सकेगा। केन्द्रीय साहित्य अकादमी की ऐसी कोई योजना न होने की स्थिति में हमारे विभाग ने दूसरे प्रदेशों की संस्थाओं के सहयोग से चलाई

जाने वाली साहित्यिक आदान-प्रदान योजना शुरू की। वर्ष 1986 में पहले पहल इस तरह का आदान-प्रदान हरियाणा के साथ हुआ।

पिछली गर्मियों में इसी योजना के तहत मध्य प्रदेश के साहित्यकारों ने हिमाचल की यात्रा की। इस बार प्रदेश के प्रमुख नगरों में साहित्यिक आयोजन तथा सांस्कृतिक स्थलों व दर्शनीय अंचलों की यात्रा भी योजना में शामिल कर दी गयी, जिससे एक सप्ताह की इस यात्रा ने एक तरह से सृजनानुभव का रूप ले लिया। तीन स्थानों पर दोनों राज्यों के रचनाकारों ने एक मंच पर कविता पाठ किया और व्यापक तौर पर विचार-विमर्श भी हो सका। इस यात्रा दल में शामिल मध्य प्रदेश के कुछ लेखकों की रचनाएं तथा सचित्र यात्रा विवरण भी इस अंक में जा रहा है।

वरिष्ठ चिंतक साहित्यकार डॉ० देवराज पिछले लगभग एक साल से शिमला के उच्चाध्ययन संस्थान में फैली हैं। उनकी कविताओं के साथ 'देशान्तर' के अन्तर्गत एक अफ्रीकी कहानी दी गयी है। प्रमुख रूप से कलाकार व कवि के रूप में जाने जाते रहे अवधेश कुमार की कहानी और एक तरह के धीरज के साथ प्रकाशित उनके पहले कहानी-संग्रह की समीक्षा भी इसमें गयी है। कलाकार सुरजीत सिंह पर परिचयात्मक लेख और दूसरी विविध सामग्री हमेशा की तरह जा ही रही है।

निधि

प्रस्तुति : तिलोत्तमा रंजन

रांगेय राघव
(1923-1962)

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के बाद हिन्दी में सर्वाधिक पृष्ठ लिखने का गौरव डा० रांगेय राघव को प्राप्त है और यह आकस्मिक नहीं है कि इन दोनों विद्वान लेखकों का सम्बन्ध प्रगतिशील आंदोलन से है। प्रगतिशील आंदोलन के विवादों में भी इनकी स्थिति लगभग एक जैसी है। महापंडित की भांति ही रांगेय राघव का रचना-क्षेत्र सर्जनात्मक साहित्य—कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, रिपोर्ताज आदि—से लेकर इतिहास, पुरातत्व, सांस्कृतिक अध्ययन, दर्शन, शोधपरक आलोचना और अनुवाद आदि में फैला है। वैसे, इनके यहां सर्जनात्मक साहित्य और दूसरे ज्ञान-क्षेत्रों का पार्थक्य अत्यंत क्षीण है। इनके उपन्यासों, कहानियों, कविताओं और नाटकों में भी इतिहास-बोध, पुरातात्विक अनुसंधान, सांस्कृतिक चिंतन और दार्शनिकता का गहरा पुट है।

रांगेय राघव का जन्म 17 जनवरी 1923 ई० को आगरा में हुआ था। कुल से ये दाक्षिणात्य थे, लेकिन ढाई सौ वर्षों से इनके पूर्वज वैर (भरतपुर) के निवासी रहे। वहां उनकी जागीदारी थी। रांगेय राघव की उच्च शिक्षा आगरा में ही सम्पन्न हुई। 1948 ई० में आगरा विश्वविद्यालय से गुरु गोरखनाथ पर लिखे शोध प्रबंध पर इन्हें पी-एच० डी० उपाधि मिली।

रांगेय राघव ने तेरह वर्ष की छोटी उम्र में लिखना शुरू किया था। इनकी रचना-यात्रा चित्रकला से आरंभ हुई थी; अंत कविता से हुआ। हालांकि काव्य-लेखन का भी समारंभ बहुत पहले से हो चुका था, कहानी-लेखन के आस-पास से ही। पहले चित्रकला, फिर कहानी और कविता, तब कहीं उपन्यास की ओर अग्रसर हुए। पहला मौलिक उपन्यास 'घरौंदा' (रचनाकला 1941-42) लिखा। इसके बाद तो इन्होंने दर्जनों उपन्यास लिख डाले। प्रारंभिक प्रयासों के सात-आठ वर्ष को छोड़कर देखें तो इन्होंने मात्र अठारह-उन्नीस वर्ष के रचना-काल में डेढ़ सौ से भी अधिक पुस्तकें लिख डालीं।

रांगेय राघव की कहानियों में 'गदल' को विशेष ख्याति मिली है। उपन्यासों में 'मुर्दों का टीला', 'कब तक पुकारूं' 'बन्दूक और बीन', 'सीधा-सादा रास्ता' आदि मुख्य हैं। 'मेधावी' काव्य विशेष चर्चा का विषय बन सका है। नाटक और एकांकियों में 'रामानुज' और 'स्वर्गभूमि

का यात्री' उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त, 'भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका', 'भारतीय संत परम्परा और समाज', 'संगम और संघर्ष', 'भारतीय परम्परा और इतिहास', 'गोरखनाथ और उनका पुत्र' और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' रांगेय राघव की ऐसी आलोचनात्मक कृतियां हैं जो उन्हें अपने युग के श्रेष्ठ आलोचकों की श्रेणी में खड़ा कर सकीं। इनमें से अन्तिम पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' डा० रामबिलास शर्मा से हुए विवादों पर केन्द्रित है।

'महायात्र : गाथा' (दो भागों में) रांगेय राघव की सबसे महत्वाकांक्षी रचना है। इसमें सर्जनात्मक प्रतिभा और पांडित्य दोनों का गहरा संगम है। लगभग दो हजार पृष्ठों की यह पुस्तक मानव इतिहास और संस्कृति की सर्जनात्मक प्रस्तुति है।

रांगेय राघव ने पच्चास से भी अधिक संकलन अनुवाद किए हैं। कालिदास, जयदेव, शूद्रक, विशाखदत्त और दंडी से लेकर गेटे, शेक्सपियर, मायकोव्स्की, टेनीसन, होमर, चौसर, होरेस, वाल्टर स्काट, ग्लासवर्दी आदि सभी को इनकी कलम से हिन्दी में वाणी मिली। हिन्दी पाठकों को विश्व-साहित्य के निकट लाने में रांगेय राघव के अनुवादों की भूमिका सर्वोपरि है। रांगेय राघव ने एक जिल्द की पुस्तक में विश्व के बीस महान उपन्यासों के सार भी प्रस्तुत किये हैं। उसे पढ़कर लोगों ने कई उपन्यासों के असंक्षिप्त संस्करणों को खोजकर पढ़ा। इस तरह देखें तो रांगेय राघव के अनुवादों की भूमिका उनके मौलिक लेखन से कम मूल्यवान नहीं है।

मात्र उनतालीस वर्ष की अवस्था में 12 सितम्बर, 1962 को रांगेय राघव की मृत्यु हो गई। कम जिया, बहुत किया। कुछ महत्वपूर्ण, कुछ अनावश्यक भी। अधिक लिखने की यह अनिवार्य नियति है।

पुनरुत्थानवाद और समाजवादी क्रांति, रांगेय राघव के लेखन का मुख्य अन्तर्विरोध है। इसे लेकर उन्हें कठोर आलोचना का शिकार होना पड़ा, खासकर रामविलास शर्मा की आलोचना का। हालांकि रांगेय राघव आलोचनात्मक संघर्ष में कभी पीछे नहीं हटे और जीवन पर्यन्त इनकी बुनियादी आस्था प्रगतिशील ही रही।

कब तक पुकारूं

सुखराम ने कहा :

भोर हो गई। आज रात-भर प्यारी सो नहीं सकी थी। कई बार सोते में बड़बड़ा उठी थी। मैंने देखा था, वह बातें कर रही थी। कभी कहती : 'तू मुझे छोड़कर चला जाएगा ?'

मैंने उसे अपने हृदय से चिपका लिया, जैसे चिड़िया अपने बच्चे को अपने पंखों में छिपा लेती है। मैंने कहा : 'नहीं जाऊंगा, तुझे छोड़कर मैं कहीं नहीं जाऊंगा।'

वह सुन नहीं सकी थी। पर उस समय उसकी अकुलाहट कम हो गई थी। रात की ठंड बढ़ती जा रही थी। मैं ऊंघने लग गया था। फिर से उसे मैंने कांपते पाया और मैंने उसके होंठों को फड़कते पाया। सचमुच मैंने अपने हाथों से उसके होंठों को दबा दिया। वह शांत हो गई।

मैं सदा से ही उसके रूप को प्यार करता रहा था। मुझे बहुत जोश आता था, मैं उससे गुस्सा भी हो जाता था, पर उसे पास देखकर मैं जानवर का-सा बोदा हो जाता। मैं उसके बदन को देर तक हाथों से सहलाया करता था। वह ऐसे हंसती थी जैसे अपनी खूबसूरती की ताकत उसे मालूम है। उन दिनों मैं जवान था। मेरे बालों में तेल पड़ा रहता और मेरा कुर्ता महीन काले रंग का होता। मैं मूंछों में ताव देता और धोती को दुलांगी बांधता। कमर में कटार खोसे रखता। मेरे एक हाथ में कड़ा पड़ा था, पतला लोहे का। गले में मैं दो-तीन तावीज पहनता। मैं ताकत-भरा था। मुझे उसकी चाहना थी, क्योंकि मेरी सारी आग जैसे उसे छूकर बुझ जाती थी। पर आज जबकि वह मेरे हाथों में पड़ी थी, आज मुझे एक नई बात हुई। रोज़ जब वह ऐसी हालत में होती तो वह मेरी औरत हो जाती, पर आज मुझे वह बुखार नहीं था। आज मैंने देखा था कि वह औरत नहीं थी। उभरी छातियां, पतली कमर, उसकी भारी जाघें आज मुझे रोज की तरह बावला नहीं बना रही थीं। तब मैंने महसूस किया कि औरत सिर्फ इतनी ही नहीं है, वह देवी भी है।

मैं कह नहीं सकता कि वह सब मुझमें कैसा ख्याल था। पर इतना ही कह सकता हूं, आज यह गोगापन आग की तरह नहीं था। आज यह चांदनी की तरह हो गया था। मुझे उस सोती हुई औरत की बेहोशी में एक नया जागा हुआपन मिला, वह था उसकी नींद में भी उसका जागी हुई की तरह हो जाना। जैसे वह आज नींद के पार भी मेरी थी। मुझे अपना बना लेना चाहती थी।

मैं समझ नहीं सका कि यह क्या था। पर मेरा दिल उमंग रहा था। आज देखा कि मैं

सचमुच उसे प्यार करता हूं। वह मेरी है। मैं उसका हूं।

सुखराम चुप हो गया था। मैं सोच रहा हूं।

सुखराम की अभिव्यक्ति समाप्त हो गई थी किन्तु मैंने अनुभव किया कि आज सुखराम क्या कहना चाहता था। वह था उसके पशु का उन्नयन। और प्रेम की असाधारण शक्ति ने उसके हृदय की अन्धकारमय गुहा में जीवन की ज्योति प्रज्ज्वलित कर दी थी। आज तक वह नारी के रूप से आकृष्ट होकर, उससे पराजित होकर पशु की भांति केवल उसका भोग करके, अपनी वासना के लाल लोहे को उसकी जवानी के अथाह विलास में बुझा लिया करता था। किन्तु आज समस्त देह उसके लिए अपनी सीमाओं का त्याग कर गई थी। अरूप ने अचेतन के माध्यम से उसकी सीमित बुद्धि पर प्रहार किया। वह अंग-अंग सटाए रहा किन्तु आज वासना नहीं, जीवन की आधारभूत संवेदना ने अपना सिर उठाया और मानो इस अज्ञात गौरव से नितान्त अपरिचित होने के कारण सुरक्षित अपने-आपको समेट नहीं सका। वहां कलुषित वासना नहीं रही। यह वह नारी-देह थी जिसे अनेक पुरुषों ने गंदा कर दिया था और वह नटों का पतिव्रतहीन समाज इसे प्रकृति की आवश्यकता, समाज की विषमता समझकर सहता चला आ रहा था। वे संभोग को बुरा नहीं कहते थे। स्त्री कहती थी कि उसका काम पुरुष के सामने स्त्री कर रही है। उसमें कोई लज्जा नहीं थी। किन्तु सुखराम अपने को ठाकुर समझता था और उसी अहंकार ने उसमें एक विष बो दिया था। परन्तु उसका कमनीय सौन्दर्य उसको, उसके बीज को फूटकर जड़ों में बदलने नहीं देता था। प्यारी अपनी देह उसे दे चुकी थी और सुखराम ने इतना ही समझा भी था। किन्तु आज उस बर्बर ने एक नई बात देखी थी। उसने इस अंधेरी रात में, मसामूंद में रहने वाली स्त्री का अपराजित हृदय देखा था, जो केवल स्त्री का हृदय था, जो मूलतः भव्य है, करुण है, प्रेम से आप्लावित है। स्त्री का यह जीवन तभी सार्थक है और इसी की शक्ति की अपरिमित असीम वेदनात्मक ग्राह्यता से वह अपने को बनाए रह सकी है।

मैं अपनी कल्पना में देख रहा हूं कि प्यारी लेटी है और सुखराम उससे सटा लेटा है। उसके नेत्र मुंदे हैं। वह सो रही है। उसकी भीतरी वेदना, आसक्ति उसके होंठों पर थिरकते हैं और सुखराम उस सबको देख-देखकर विभोर हुआ जा रहा है। आज वासना छोटी चीज़ हो गई। आज वासना से भी ऊपर हृदय जागा है, वह जो जागरण में यदि दीपक की भांति जल रहा था, तो नींद में बिजली की तरह कौंधियाकर अपनी एक झांई-सी मार जाता है। अनिंद्य थी वह वेला। आकाश में मानो सकल वायु मर्मर, वनांत की झूमती मरोर और अंधकार का अतलान्त गहन उच्छ्वास सब आज उसी महामोद के अस्पष्ट और छविमय प्रतीक थे, जो प्रति-कण में उच्चरित हो रहे थे। आज स्त्री का रूप अपने वास्तविक सौन्दर्य के कारण विजयी हो गया था; और सुखराम उसे समझ गया था। किन्तु कितना? जैसे समुद्र के किनारे खड़ा हुआ मनुष्य अपने पांवों को भिगो जाने वाली लहरमात्र की तरलता का, मर्मर का आभास पा सका हो। अभी उसने गहन गंभीर सिन्धुराज का वह मध्य गंभीर अन्तस्तल कहां देखा था जहां निस्पन्द किन्तु हाहाकारों की प्रतिक्रिया बनकर एक अटूट सर्जनवती शांति होती है।

वह प्रेम की अभिनव छाया है। प्यारी एक मशाल है। आज तक वह जैसे सुलगी नहीं थी। आज जल उठी है। उसमें से फरफराता उजाला निकल रहा है। प्यारी रहे न रहे, सुखराम उस आलोक से प्रदीप्त हो चुका है। वह ज्योति-परम्परा है। वह आज तक भी थी किन्तु मुखर

नहीं हुई थी। तब उसे अनुभव हुआ था कि वे केवल शरीर के कारण ही एक-दूसरे से नहीं जुड़े हुए थे। उनकी समस्त अनुभूतियों ने अपना एकाकार और तादात्म्य कर लिया था। वही जीवन की पूर्ण तृप्ति का साधन था। यह समस्त पाप-पुण्य मनुष्यकृत हैं और वह ही अपनी अनुभूतियों से इनमें यातना पाता है। इनमें ही शोषण ने अपना स्थान बना लिया है। किन्तु सुखराम की यह सुखावह तृप्ति आज ऊंची उठ रही है। उसमें दर्द जागा है।

और सुखराम ने कहा :

'वह नींद में चिल्ला उठी। उसका सारा बदन पसीने से तर-बतर हो उठा। मैं चौंक उठा। मुझे लगा वह पसीना इसे चिकना बनाकर मेरे हाथों में फिसलन पैदा करना चाहता है। वह मेरे हाथ से छूट जाएगी। मैंने चिल्लाकर कहा : 'प्यारी ! होश में आ। क्या हुआ तुझे ?'

वह उठकर बैठ गई। उसने कहा : 'मैंने एक डरावना सुपना देखा है। डरावना !' वह कहकर कांप उठी।

मैंने कहा : 'तूने क्या देखा है ऐसा ?'

'मैं कह दूं !'

'क्यों ? कहने में भी हरज है !'

'पर मुझे डर लगता है।'

'मैं तो तेरे पास हूं।'

'हां, तू मेरे पास है।' उसने मुझे पकड़कर कहा : 'अब नहीं सोऊंगी।'

'क्यों ?'

'कहीं यही सुपना आगे शुरू हो गया तो ?'

'ऐसा भी कहीं हुआ है पगली !'

वह क्षण-भर चुप रही। फिर कहा : 'मुझे वे तुमसे छीने लिए जा रहे थे।'

'वे कौन थे ?'

'मैं नहीं जानती। चारों तरफ सांप ही सांप थे।'

'सांप !!' मैंने कहा : मैं हनुमान जी पर दीपक चढ़ाऊंगा। महादेवजी पर बेलपत्तर चढ़ाऊंगा। पीर के मजार पर दिया चढ़ाऊंगा। ईदगाह की चीटियों का बूरा डालूंगा। तू कहेगी तो पंडित को सीधा भी दे आऊंगा। भगवान कसम ! ठाकुर जी के मंदिर में जाकर परार्थना करूंगा। पर तूने ऐसा क्या देखा ?'

'मैंने देखा कि मैं जंगल में जा रही हूं। तू मेरे पास नहीं है। वहां एक बड़ा सुन्दर मनी रखा है। उसमें से उजाला होता है। मैं उसको लेकर हाथ में उठा लेती हूं। तब मैं देखती हूं, एक बड़ा सांप मुझे देखकर फुफकारता हुआ भागा आ रहा है। मैं उस मनी को लेकर भागी जा रही हूं। चारों तरफ से सांप भागे आ रहे हैं। वे कह रहे हैं : 'पकड़ लो इसे, जाने न पावे।'

मेरे कान खड़े हो गए। पूछा : 'फिर ?'

'फिर मैंने देखा कि तू बड़ी दूर पहाड़ पर खड़ा मुझे पुकार रहा है। तू मुझसे बहुत ऊंचा है। मैं तुझ तक पहुंच नहीं सकती। मैं तुझे पुकारती हूं—सुखराम ! हो, सुखराम ! सुखराम ! पर मुझे लगता है मेरा गला रुंध गया है। मैं पुकार नहीं सकती। मेरी आवाज बंध गई है और रात का अंधेरा अब टूट रहा है। सारा आसमान गुफा के काले-काले पत्थरों की

तरह नीचे धंसकता आ रहा है । चारों तरफ शोर हो रहा है । गूंज उठ रही है ।

'और फिर बहुत-से कंजर गाते हैं । मेरा पहला दोस्त, जिसके साथ मैं पहली बार सोई थी, वह मेरे सामने आ गया है और मुझे बचाने को दोनों हाथ उठाए खड़ा है । मैं कहती हूं : नैकस ! तू हट जा । तेरे सामने आ जाने से मेरा सुखराम मेरी आंखों से दूर हो गया है । तू दूर हट जा । और मैं उससे लड़ने लगी हूं ।

'तभी सांप और पास आ गए हैं, सांप···एक मुझे डसने को फन फैलाए खड़ा हो जाता है···।'

'तभी मेरी आंख खुल जाती है ।'

प्यारी का सुपना भयानक था । पर मुझे हंसी आ गई ।

कहा : 'तो इतना क्यों डरती है ? सुपना तो सुपना ही होता है ।'

'लेकिन मैंने आज तक मीठे सुपने देखे हैं ।'

'बावरी ! रोज कोई मीठे सुपने नहीं देखता ।'

'पर सुपना कोई वैसे ही नहीं देखता । जब देवता नाराज़ होते हैं तभी ऐसे सुपने देखते हैं ।'

'मैं इतनी मनावनी तो कर चुका हूं ।'

'तू सच मुझे बहुत चाहता है ।' कहकर उसने मेरा हाथ दबा दिया । उसके कसकर बंधे हुए बाल, जो कानों के ऊपर बंटी हुई बालों की लड़ी में होकर पीछे उठी हुई चुटिया में खतम होकर पीठ पर लटकते थे, इस समय ढीले हो गए । उसने उसी वक्त उन पर हाथ फेरा और कहा : 'कल तू मेरे जूंएं बीन देगा ?'

मैंने कहा : 'ज़रूर !'

यह प्यार की निशानी थी ।

'और मैं तेरे बीन दूंगी ।' उसने कहा ।

फिर हम लोग लेट गए । आकाश की ओर देखकर उसने कहा : 'कितने तारे चमक रहे हैं ! ये सब आत्मा है सुखराम !'

'हां प्यारी ! लोग ऐसा ही कहते हैं ।'

'सब मरकर आखिर में ऐसा ही आत्मा बन जाते हैं । फिर एक दिन टूटकर धरती पर आ गिरते हैं ।'

'इसीला यही कहता था ।'

'वह जादू भी जानता था थोड़ा-सा । उसने मुझे बताया नहीं ।'

'क्यों !'

'मैं नहीं जानती । उसी ने मुझसे कहा था कि तेरा बाप भी कुछ-कुछ जादू जानता था ।'

'मेरा बाप !! मैंने कहा : 'मुझे उसकी धुंधली-सी याद रह गई है ।'

'तब तू छोटा ही तो था ।'

'तू ही कौन बड़ी थी !'

'हां, मैं भी छोटी थी ।'

'तूने ही मुझे आसरा दिया था ।'

उसने शरम से कहा : 'चल हट ! लुगाई भी कहीं मरद को आसरा देती है !'

मैंने उसकी लाज को समझा। वह मुझ पर अहसान नहीं चाहती थी। उसने फिर कहा : 'सुखराम ! तू भी जादू सीख ले।'

'क्यों ?'

'फिर तू चाहे जित्ते रुपये ला सकेगा।'

'तेरा बाप ही क्यों न ले आया ?'

'उसे पूरी सिद्धी मिली ही कहां थी ! वह तो थोड़ा-बहुत मंतर-जंतर जानता था। सिद्धी मिलना क्या कोई खेल होता है ! गांव में इस बखत एक सयाना है। कहते हैं, बड़ा पहुंचा हुआ है। एक दिन मुझे मिला तो मुंह फेरकर बैठ गया और गाली देने लगा। बोला : हरामजादी ! माया है।'

'माया है। सच मैं डर गई। गांव में उसका बड़ा मान है।'

मैं उसकी बातों से चकरा गया। वह मुझे एक नई दुनिया की तरफ ले जा रही थी और मुझे लगा, मैं आसमान में उड़ रहा हूं। मैं उड़ रहा हूं।

कोई कहता है : 'सुखराम !'

मैं जवाब नहीं देता।

'तू कहां जा रहा है ?'

मैं उड़ता रहता हूं। बोलता नहीं।

और फिर अचानक मैं अधूरे किले पर खड़ा हूं। वह मेरा है। सब मेरे सामने सिर झुकाए खड़े हैं।

पर वह सुपना भी नहीं था। एक खयाल-भर था। मैं प्यारी के बोल से चौंक उठा। उसने कहा : 'तुम मेरे हो, मैं तुम्हारी हूं। बस यही एक बात मेरे दिल की है। बाकी सब बातें दुनियादारी की हैं। वह सब तो हैं ही। मेरा मन उन सबमें रमता नहीं। बोलो, तुम जलन से मुझे छोड़ तो नहीं जाओगे ? तुम पराये मरद के साथ देखकर गुस्सा तो न होगे ?'

'नहीं।' मैंने कहा। हालांकि मैं अपने ऊपर पूरा भरोसा नहीं करता था।

'और एक वादा लूंगी। दोगे ?'

'कह तो सही।'

'तुम किसी दूसरी लुगाई से नाता न जोड़ोगे !'

'क्यों ? और तू आजाद है !'

'मेरा क्या ! मेरा तो रास्ता शुरू ही से ऐसा पड़ गया है। पर तुम पर किसी चुड़ैल की छांह भी नहीं पड़ी है। तुम मेरे हो, सिर्फ मेरे ही हो।'

मैंने कहा : 'तू मुझसे यह क्यों कहलवाना चाहती है ?'

'क्योंकि मैं चाहती हूं।' उसने कहा।

'अच्छा, मैं मानता हूं।'

मुझे खुद ताज्जुब हुआ। हम लोग शराब पीकर जब झूमते हुए लड़ते हैं तब औरतें डरती हैं। मुझे याद है, तब मैं छोटा था। एक बार हजारी नट ने कटारी उठाकर भरी बस्ती में चंदू की लुगाई को शराब पीकर पकड़ लिया था। चंदू और हजारी में रात बड़ी देर तक कटारें चलीं। लोगों ने कुछ नहीं कहा : देखते रहे, चंदू की लुगाई डरती रही। पर अचानक वह बीच में आ गई। उसके सीने में चंदू की कटार गलती से धंस गई। हजारी ने चंदू की बोटी-

बोटी काट दी और फिर सवेरे थाने चला गया। उसे फांसी लग गई थी। हजारी नामी चोर था। पुलिस के हाथ नहीं आता था। पर मुहब्बत का ऐसा दीवाना हुआ कि आप ही मौत के मुंह में चला गया। उसे तब बिलकुल डर नहीं लगा।

मैं उठ बैठा। मैंने बीड़ी सुलगाई, कहा : 'प्यारी !'

वह भी बैठ गई।

'तू भी पीएगी ?'

'ला, पी लूं।'

वह और मैं दोनों बीड़ी पीते रहे।

अब मैंने कहा : 'तू सिपाही के घर बैठेगी, तो यहां मेरे पास आया करेगी ?'

'तूने क्या कहा ?'

'क्यों ?'

'फिर से कह तो !'

'तू यहां आया करेगी न ?'

उसने मेरे बाल पकड़कर झिझोड़ दिए, जैसे उसे रोष हो आया था।

मैंने कहा : 'क्यों ?'

'आऊंगी, किन्तु मेरे साथ चलेगा ?'

'वह मुझे रोटी देगा ?'

'मैं दूंगी तुझे। इसी सरत पर जाकर वहां रहूंगी। तू समझता है, पराए मरद के घर रहते हुए मुझे डर नहीं लगता !'

'तुझे काहे का डर लगता है ?'

'मैं नहीं जानती। पर तू रहता है तो सांसत नहीं रहती।'

'अच्छा मैं दिन-भर अपनी कमाई कर लिया करूंगा।'

उसके स्वर में तो रोष था, पर आंखों में खुशी थी जैसे उसे मेरी इज्जत की बात अच्छी लगी थी। वह मरद क्या जो लुगाई का खाकर रहे !

'हां, नहीं खाऊंगा।' मैंने कहा।

'तुम्हारी मरजी; मैं जोर नहीं देती। पर तुम्हारी इज्जत तो मैं करवाऊंगी ही।'

इसका अन्दाज हम दोनों में से किसी को न था। हम इतना ही जानते थे कि सिपाही में बड़ी ताकत होती है। वह राजा का आदमी होता है। वह सबसे घूंस लेता है। गांव के लोग उससे डरते हैं। वह बड़ी जातों में उठता-बैठता है। वह जिधर जाता है उधर ही नट दौड़कर छिप जाते हैं। हम तो यही देखते आ रहे थे कि चाहे जब, चाहे जिस नटनी-कंजरिया को पकड़ ले जाता था। वह वहां हमें चोर कह देता था। फिर हम लोग बेंतों से पिटते थे। कभी-कभी गुड़ के पानी के छींटे दे दिए जाते थे जिससे चैंटे लग जाते थे और देही सूज जाती थी। फिर उसकी बात ही सच मानी जाती थी। हमें हमेशा गाली दी जाती थी। ज्यादा किसी ने सिर उठाया तो जेल की हवा खाता था। चक्की पीसते-पीसते उसकी धज्जियां उड़ जाती थीं। एक बार सिपाही से नटनी को कोई बीमारी लग गई थी। उसका इलाज बड़ी मुश्किल से हुआ था, सो भी किया था इसीला ने रूखड़ियों से।

न जाने कैसे इसी समय उसने पूछा : 'सुखराम ! तू तो रूखड़ियों के बारे में जानता है !'

'हां, हां ।'

वह चुप हो रही ।

मैंने कहा : 'क्यों पूछती है'

'अरे, मैं सबसे कह दूंगी तू बड़ा इलाजी है । फिर सब तेरी खुशामद किया करेंगे, ठोड़ी में हाथ डालते फिरेंगे ।'

मैंने खुश होकर उसका सिर थपथपा दिया । फिर मैंने उठकर पानी पिया । उसने बैठे-बैठे कहा : 'ला, मुझे पिला दे ।'

'उठके पी ले ।' मैंने कहा ।

'पी लूंगी नासपीटे ।' उसने मुस्करा कर कहा : 'आज तू ही न मेरी जूती उठा दे !'

मैं खुश हुआ । मैंने उसे पानी पिलाया । फिर मैंने बीड़ी सुलगाई । वह मेरे पास आ बैठी । मैंने कहा : 'प्यारी ! आज की रात जागर में बीत गई ।'

'अभी तो सूका[1] नहीं उगा ।'

'तू मुझे एक गीत सुना दे ।'

'कौन-सा ?'

'वही, जिसमें तू गाती है कि बिरहिन की आग सताए·· '

'आज तो मैं तेरी बगल में हूं । तू क्यों सुनना चाहता है ?'

'जानती है, आज की रात हमने कुछ नहीं किया ।'

'मैं समझती हूं जिन रातों किया था, वे अपनी न थीं । आज तू मेरा है । उससे कोई मन नहीं मिल जाता है । प्रीत तो मन की होती है ।'

'अच्छा, गाना गा दे ।'

'तू मेरे संग ही गाना ।'

उसने गाया : 'ऐ रे, मैं आग में जली जा रही हूँ, हाय मेरे बालम, तू कहां चला गया । पहाड़ के धौ सूख गए । ऐसी मेरी चाहना भी सूख गई है । पर मेरा हिया देख, इसमें क्या है ? तू पर्वत पर धूनी रमाए बैठा है । जोगी ! आ मेरे मन की धूनी तो देख जा !'

मैंने मोटे स्वर में गाया : तेरी धूनी मुझे जलाती है तो तन जलता है, यह धूनी जलती है तो तन गलता है । प्यारी ! तेरे बिना मुझे जोग भी नहीं सुहाता ।'

उसने कहा : 'ओ जोगी ! जब भसम रमाई है तो मन लगा के समाध लगा । अब पीछे न हट ! नहीं तो सब लुगइयां मुझसे कहेंगी कि अपने प्यारे को भेड़ा बना लाई । यह डायन जादूगरनी है ।'

मैंने गाया : 'प्यारी ! दुनिया में कौन क्या है, कोई नहीं जानता । कोई किसी की जीभ नहीं पकड़ सकता । यह भसम नहीं है । तेरे गोरे अंगों की याद है । यह धुआं देख मुझे तेरे बालों की याद आती है । मैं तो जलकर मर जाऊंगा । कैसे करूं, यह मैंने कैसी बेड़ी अपने आप अपने पांवों में डाल ली है ।'

वह गाने लगी : प्यारे ! मैं जानती हूं, तुझे मुझसे प्रीत नहीं है । तुझे तो चमकती बिजलियों से सूनापन लग रहा है । तू जब मोरनी के पास मोर नाचता देखता है तो तेरी हूक

---

1. शुक्र तारा

उठती है । हिरनी के पीछे दौड़ता हिरन तेरा काम जगाता है । ओ काम के मतवाले ! तू मुझे प्रीति का धोखा क्यों देता है । तू तो फिर ऐसे ही चला जाएगा जैसे ये सावन के मेघ चले जाएंगे फिर जब सरद आएगी तब मैं और आसमान दो ही तो धरती पर आंसू गिराने को रह जाएंगे ।'

मैंने गाया : 'मुझसे कसम ले ले प्यारी ! अब की शरद्-पून्यो मैं तुझे दूध से निहलाऊंगा और चुल्लू-चुल्लू वह दूध बिखरेगा तो चांदनी फैल जाएगी । तू मेरी कामिनी कैसी सुन्दर है, जैसे चंदा में से चीर के निकाली हो । मैं जोगी तो तेरे लिए बना हूं प्यारी ! तू ही मेरी सब-कुछ है ।'

सुर गूंजते गए । वह पतली आवाज और मेरी मोटी साथ-साथ गूंज उठीं —'आज प्रीत की रीति का निबाह हो गया । वह गोरी कैसी जिसका बलमा साथ न हो ! तलवार सबको काटती है, पर म्यान को नहीं काटती । लौ काठ को भसम करती है, पर काठ लौ को झुकाती नहीं, उठाती ही रहती है । ओ प्रीत के दीवानो यह बताओ, प्रीति में ढोला जलता है कि गोरी जलती है ? कोई आज तक बता पाया है कि आग लकड़ी को पकड़ती है कि लकड़ी आग को पकड़ लेती है ?'

हमारे गीतों ने सवेरा कर दिया ।

बिल और दाना

एक बार एक खेत में दो चींटियां घूम रही थीं। एक ने कहा, 'बहन, सत्य क्या है ?' दूसरी ने कहा, 'सत्य ? बिल और दाना !'

उसी समय एक मधुमक्खी ने सरसों के विशाल, दूर-दूर तक फैले खेत को देखा। क्षितिज तक फूल खिले हुए थे। दो आदमी उस खेत में घूम रहे थे। एक ने कहा, 'इन फूलों के बीच में चलते हुए ऐसा लगता है, जैसे हम किसी उपवन में घूम रहे हों।'

दूसरे ने कहा, 'कैसी मादक गंध हवा पर बह रही है।'

मधुमक्खी ने सुना और मुस्कराकर फूल में अपना मुंह लगाया और मन-ही-मन कहा, 'बेचारे ! कितने लाचार हैं ये लोग। सरसों के बीज से तेल निकालना जानते हैं, लेकिन उसके फूलों का रस लेना नहीं जानते।'

यह सुनकर चींटियां बिल में आ गईं।

यह बात आई-गई हो गई। फागुन ने हवा में मस्ती भरी, चैत ने कोयल के स्वर गुंजाए और कुछ दिन बाद सैंकड़ों मक्खियों ने असंख्य फूलों का शहद ला-लाकर पीपल के तने पर एक बड़ा-सा छत्ता लगा दिया। दोनों चींटियों का भी आना-जाना वहीं से था। वे भी सब देखती रहीं।

फसल काटकर वे ही दोनों आदमी उसी पीपल के नीचे बैठे और ऊपर जो नज़र पड़ी तो एक ने कहा, 'अरे ! क्या ज़ोर का छत्ता लगाया है मक्खियों ने ! खूब मिलकर काम करती हैं। ये अपने खाने का इन्तज़ाम भी खूब करती हैं।'

दूसरे ने कहा, 'आज रात को कंबल देना मुझे थोड़ी देर को। मैं इसको तोड़ूंगा।'

मक्खियों ने सुना नहीं; क्योंकि वे अपने निर्माण में व्यस्त थीं। अंधेरा हो गया और मक्खियां छत्ते पर जा बैठीं। दूसरा आदमी कंबल ओढ़े चढ़ गया और उसने मक्खियों को झाड़ू से हटाकर अंधेरे में छत्ता तोड़ लिया और उतर आया।

मक्खियों पर वज्र टूट पड़ा, लेकिन बेचारी क्या करतीं। वे यह भी नहीं पहचान पाईं कि उनकी उगलन को कौन ले गया। उन्होंने कंबल जैसी किसी चीज को काटा, वह दर्द को महसूस ही नहीं करती थी। आखिर करती भी क्यों ?

यों एक सपना उजड़ गया।

दोनों आदमियों ने शहद बोतलों में भरकर रख लिया। उधर मनुष्य का कल्याण करने को एक संत निकले हुए थे। वे दही और शहद ही खाते थे। वे उपदेश यही देते थे कि सब कुछ

दान कर दो; अपने पास कुछ मत रखो। संस्कृति का नया युग प्रारम्भ करो।

जब यह उपदेश देते हुए वे गांव आए, तो इन दोनों पर उनकी अहिंसक वाणी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने उन्हें शहद भेंट कर दिया, जिसे देखकर संत की आंखें चमकने लगीं।

दुपहर हो गई तो उसी पीपल की छाया में संत बैठ गए और अपनी रोटी में उसी शहद को लगाकर खाने लगे।

दो मक्खियां डाल पर बैठी थीं। अब काम कुछ था नहीं। बहुत दिनों की मेहनत बेकार जा चुकी थी। जहां कभी छत्ता था, वहां अब आग से जले काठ की कलौंच-सी बाकी थी।

अचानक एक की निगाह रोटी पर पड़ी, तो उसने कहा, 'बहन मक्खी गुनगुन! देख तो ज़रा। लोग तो कहते हैं यह संत है, सबसे कहता है, सब कुछ दान करो, तप करो, पर यह तो शायद शहद खा रहा है, जो हमने इतनी मेहनत से इकट्ठा किया था। चल इसे काटकर इसके ढोंग की सज़ा तो दे आएं।'

दूसरी मक्खी ने कहा, 'नहीं बहन तुनतुन, अब पापी और झूठे के हाथ में जाकर वह शहद नहीं रहा। उसमें फूलों की मिठास नहीं रही। मनुष्य के स्वार्थ ने उसे हमारे लिए विष बना दिया है, हम शहद फूलों की प्यालियों से समेटती हैं, ऐसी-वैसी जगह से नहीं।'

एक कुत्ता वहां बैठा-बैठा संत की रोटी को देख रहा था। संत तो पेटपूजा के नये प्रयोग में व्यस्त थे; वे तो नहीं सुन पाए, मगर कुत्ते ने सुन लिया। सोचने लगा कि आखिर यह क्या चीज है जिसके पीछे संत पागल हो गए। लालच आया तो कुत्ता खड़ा होकर पूंछ हिलाने लगा। संत ठहरे दयालू! एक टुकड़ा उसकी ओर भी फेंका, शहद लगी रोटी देख कुत्ता झपटा, किन्तु शीघ्र ही उसने उगल दिया उसे। शहद उसे बहुत बुरा लगा। और उसने सोचा—आखिर आदमी ने इतनी बुरी चीज़ की चोरी क्यों की? इसे खाने से तो उबकाई आती है।

जब कुत्ते को चैन न पड़ा तो उसने धीरे से कुनमुनाकर कहा, 'बहन तुनतुन! क्या फूलों में इतनी उबकाई लाने वाली चीज़ होती है, जो तुम बेवकूफों की तरह इकट्ठा किया करती हो, और क्या इसी की रक्षा करने के लिए तुम अपना विषैला डंक सबको चुभाती फिरती हो?'

गुनगुन मक्खी हंसी और बोली, 'अरे भैया कुत्ते! तू इसकी असलियत क्या जाने! यह शहद कैसी चीज़ है, इसे तू क्या समझे! तू जिस आदमी की जूठन खाता है, वही आदमी हमारी इस उलझन को खाने के लिए चोरी करता है और संत-महात्मा इस थूक को खाकर दानी और त्यागी होने का ढोंग रचते हैं। तू तो सिर्फ रोटी चबा! तू शहद को क्या समझ सकता है।'

कुत्ता मन-ही-मन आदमी के बारे में चक्कर में पड़ गया और सोचने लगा—लोग कहते हैं कि मैं जूठा खाता हूं, तो क्या यह आदमी भी जूठन खाता है?

थोड़ी देर बाद में संत खा-पी चुके और उपदेश सुनने वाले इकट्ठे हो गए। तब संत ने कहा, 'अपना सब कुछ दान कर दो। मक्खियों की तरह सुन्दरता से सत्य निकालना सीखो, जैसे वे फूलों से शहद निकालती हैं। और मनुष्य के समाज को मिठास दो! और कुत्ते की तरह निर्लोभी रहो, जो मिठास होने पर भी शहद नहीं चाहता!'

इस प्रवचन को सुनकर मक्खियां मनुष्य का गुणगान करती हुई उड़ गईं और कुत्ता पहले से भी अधिक मनुष्य का भक्त हो गया। तब दूसरी चींटी ने पहली चींटी से कहा, 'बचकर चल! संत को इतना समय नहीं कि हमें देखकर बचकर निकले। सारा सत्य यहीं धरा रह

जाएगा।'

उस दिन से लोक में यह प्रचलित हो गया कि मक्खियां इसीलिए बनी हैं कि आदमी के लिए शहद इकट्ठा किया करें और कुत्ता इसलिए पैदा हुआ है कि आदमी की सेवा किया करे। चोरी और दासता से मनुष्य का अहं संतुष्ट होकर नये-नये सन्तों और पैगम्बरों को धरती पर भेजने लगा और मनुष्य, जिसने कि आदर्शों के मूल में केवल अपना स्वार्थ सिद्ध किया था, किसी भी प्रकार संतुष्ट नहीं सो सका। उसे दुःखी देखकर एक बार मक्खियों ने निर्णय किया कि अबकी वार जब वह चोरी करने आए तो उसे रोक दिया जाए, क्योंकि चोरी को ही न्यायसंगत समझने के कारण वह घबरा रहा है, और कुत्ते ने सोचा कि मेरी दासता ने इस आदमी को अहंकार में डाल दिया है, अतः मुझे इसका यह दंभ भी मिटाना चाहिए। चुनांचे जब आदमी छत्ता तोड़ने गया तो मक्खियों ने काट लिया और कुत्ते ने बगावत कर दी। दोनों का ध्येय था कि अब कोई इनमें दार्शनिक संत बनकर नई मूर्खता प्रकट न करे। किन्तु हुआ यह कि एक नया व्यक्ति खड़ा हुआ और उसने मक्खियों को उड़वा दिया और कुत्ते की पिटाई कराई और कहा, 'जिसमें डंक हो, उसे निकाल दो क्योंकि वह मिठास के पास जाने से रोकता है, और जो बगावत करे उसे दंड दो, क्योंकि बगावत से नियम बिगड़ता है। जो कुछ है, हमारे लिए ही तो है।'

मक्खी और कुत्ता बड़े उदास हो गए। उन्होंने आसमान के सितारे से शिकायत की। सितारा बहुत बुड्ढा था। उसने हंसकर कहा, 'बच्चो! यह आदमी बड़ा मूर्ख है। जब यह इस धरती पर नहीं था, मैं तो तब से ही इस धरती को जानता हूं। पर यह अब समझता है कि सब कुछ इसी के लिए है।'

'कब से देख रहे हो तुम? क्या हम इसी के लिए बने हैं?' कुत्ते और मक्खी ने पूछा।

'बहुत दिनों से।' सितारे ने हंसकर कहा, 'तुम इसके लिए नहीं बने, तुम बने हो मेरे सामने। और मैं तुम्हें हमेशा देखा करूंगा।'

इसी समय बुड्ढा सितारा हिल उठा और आकाश में फिसलकर गिर पड़ा। आकाश में आग-सी लगी और फिर सब शान्त हो गया। मक्खी और कुत्ते ने एक-दूसरे की ओर देखा और कहा, 'सितारा झूठ कहता था। आदमी ठीक कहता है।' और दोनों फिर उसी की सेवा में लग गए: दूसरी चींटी ने पहली चींटीं से कहा, 'सत्य समझो।'

पहली चींटी ने मुस्कराकर कहा, 'समझ गई। जो तूने उस दिन कहा था—वही अन्तिम सत्य है—बिल और दाना।'

उसके बाद कोई कुछ नहीं बोला।

('पांच गधे')

श्रमिक

वे लौट रहे
काले बादल
अंधियाले-से भारिल बादल
यमुना की लहरों में कुल-कुल
सुनते-से लौट चले बादल

'हम शस्य उगाने आये थे
छाया करते नीले-नीले
झुक झूम-झूम हम चूम उठे
पृथ्वी के गालों को गीले

हम दूर सिंधु से घट भर-भर
विहगों के पर दुलराते-से
मलयांचल थिरका गरज-गरज
हम आये थे मदमाते-से

लो, लौट चले हम खिसल रहे
नभ में पर्वत से मूक विजन
मानव था देख रहा हमको
अरमानों के ले मृदुल सुमन

जीवन-जगती रस-प्लावित कर
हम अपना कर अभिलाष काम
इस भेद-भरे जग पर रोकर
अब लौट चले लो स्वयं धाम'

तन्द्रिल-से स्वप्निल-से बादल
यौवन के स्पंदन-से चंचल
लो, लौट चले मांसल बादल
अंधियाली टीसों-से बादल

('पिघलते पत्थर' से)

महाविजय

नीले आकाश की अथाह गहराई की छाया में,
इंद्रधनुषी गुलबंरी हवाओं के द्वार की
चौखट-से जीवन पर,
यों प्रकाश और अंधियारे का अविच्छिन्न सम्मेलन,
गंगा के स्रोत-सा जो हिमगिरि के रहस्यों से फूट रहा,
फुल्ल पूर्णता का प्यासा प्रतीक एक,
यौवनकी उर्ज्जस्वित गरिमा का अकह चक्र भीतर समाये हुए,
माधव था घूम रहा, सोच रहा—

मेरे मानस की तरुणाई देखती है—
अरुणाभा त्वरित-सी फैल रही
व्योम के नीलम को जल में नितारती-सी,
कलरव की रेशमी परछांइयों से
अंतराल के गुंजलकों को खोलते हुए
असंख्य विहंगम उड़ते हैं,
मानो किसी अतीन्द्रिय इंद्रजाल में से
छूट रहे स्वप्न रंगों की अकहनीय तृष्णा में भीग-भीग,
हरसिंगार के फूलों से गंध बगराते
धरती पर मुखर हास हरियाली के होंठों पर
हीरों से धरते हुए
चांदी के स्वर भरते हैं पन्ना पुखराजों को
होंठों के कोरों में भींचे हुए,
सुषमा के अथाह सिंधु पर
स्वर-संगम का आरोहण
गीतों की नौका पर पाल-सा फैला है,
उल्लास-धीवर की वंशी विभोर-सी बजती है

मानस दिगंतर के ओर-छोर स्पर्शों से झंकृत कर
मानो अरूप नाद सम्मोहन भावना के कानन में
ममता की राधा को जगा रहा, टेर-टेर,
कल्पना के दूरांतर क्षितिजों के कोने
मुंदते आ रहे हैं किसी गोपन पिपासा की
अछूती उन्माद-भरी घुलती गोलाई में,
जहां अतिरेक स्नेह का ही मूर्ति मन्त्र
वायु में से देह-गंध सूंघने में सक्षम हुआ
अपने व्यक्तित्व की बलवती आकांक्षा को
पूर्ण करने की महत्वाभास-भरी याचना में,
ऐसे में चाहिए क्या ?
कुछ भी नहीं,
हरी-भरी छाया में भोर जहां ढूंढ़ते हैं
यौवन की तन्मयता का समर्पण
लेटे-से भूले निज भार सारे
मेरे मन में वे दुहराते हैं मानो यह बार-बार
इच्छा से परे ही संतोष का केतन लहराता है,
कामना अभावों की कोलाहलमयी क्षुद्र जड़ता है।
पूछता हूं किन्तु मैं यह—
जीवन की चेतना के प्रतीकों की प्रेरणा स्फूर्ति पाती
उसके ही संबल से,
क्या वह है त्यक्त ऐसी ?
मुझे क्या है ? हूं तो सही,
किन्तु इस भांति यह होना, होते रहना है क्या भला,
विगत औ' अनागत हैं पंख सदृश
और यह वर्तमान केवल है
अहं का संचित-सा भयपूर्ण एक गरुड़ भीमाकार
पुंजीभूत अणुओं की मोहांध आवरणग्रस्त आशंका-सा
धरती पर अन्न ढूंढ़ता है
आकाश के अपार रहस्यों को जानने को उड़ने को ?
चाहता है व्यापक को उठे बांध ?
कैसी है सत्ता यह ?
क्या है यह वेदना जो प्राप्ति में भी कमी बन रहती है,
अभावों में बन जाती तृष्णा है

भौतिक में बंद रहती चाहती है चेतना का सन्निवेश,
जन्म लेती, मानो बंद सीपी में कोई दीप्त मोती हो
अनजाने अथाह में अनाम निज जन्म लेता;
कसकती है राष्ट्रों में, व्यक्तियों में, जन्मान्तर कल्पों की
साधनों के दुर्निवार जालों में,
संघर्षों-विप्लवों की दुर्दम हुंकारों में,
जीने के हेतु छटपटाती सांसों में टकराती है,
क्या है यह जो कि नहीं लेने देती चैन कहीं ?

पर मैं क्यों याद करूं ?
कवि हूं मैं। अपरूप मेरी अनुभूति चाहती है
एकत्र करूं वह सब जो अन्यों को प्राप्त नहीं,
उनको बनाकर 'सब' दूं उनको।
धुली हुई पूनम की बिखरी हुई गैलों-सी ही
भोर की सुनहरी अ-रोमिला-सी लाजवंती मंद धूप
सघन मर्मर करते पत्तों में से छन-छन कर
चल जल पर तैर-तैर
कोमल कमल-नारों की अप्सरि-सी बोझिल सुकुमारता को
अपने उजियाले नागपाश में
बांध रही और आप छिप जाती,
मानो मुग्ध लोचनों से उतर-उतर
अधखिले कुसुमों से आंसू हों
गोरे प्रिय गालों के कंचनी स्पर्शों से
कंपिता सी लटों में लुक जाते—
छायाओं वाले लोक जहां सृष्टि करते रूपों की—
अनाम उदयास्तों की अपार गति छाया में,
अपने ही अतलांत सागर-पति पावस रहस्यों के
झुरमुट में क्षण-चमक-जुगनू से छिप जाते !
आह मदिर वायु चपल
बोझिल करती है पलकों को श्रांत पक्षियों-सा बना देती
चाहते जो कल्पना के नीड़ों में शांति पाये !
दिशाओं से चाहती है भयों का प्रतिरोध
मानो अंतरात्मा पुनर्जन्म ग्रहण करने को
नये चैतन्यलोक चाहती हो,

व्याप्ति देह की ही मांगती हो प्यार जीने का
ऐसा तो कुछ नहीं,
एक पूर्णता से खंड होने की दारुण-सी यातना कचोटती है,
एकात्मक एक स्वर तादात्म्य होता है हरियाली और उसी के
भीतर के रस में जो फूल खिलता
किन्तु उसकी अभिव्यक्ति एक कांटा बनती है,
यात्रा का साथी ढूंढ़ता हूं
सिंधु से मरु के विशद सुनसान तक मेरा मन भटकता है,
द्वार पर आये कोई, छुए मुझे ऐसा बार-बार मन हुआ मेरा,
बिजलियां निचुड़ गईं बादलों की उंगलियों से
उल्लास मूक रहा, स्थापत्य के सौंदर्य में तरलताएं
अंतस की घुलती रहीं,
छांह तिरती-सी उमगते उजाले के आंचल के नीचे से
सरक कर अंधियारे को लजाने लगी,
मेरा मैं दिगंतों में पागल-सा पुकारने को उठता जब
विसर्जित होते हैं काल मेरी बांधी बंधी माटी में,
अतीत की अधूरी पिपासाएं जिजीविषा के छल-सी
लौटाती हों मानो फिर कारा में,
अपने अभेद्य दुर्ग का अधिकार ज्यों प्रकट कर
झिलमिल के आयामों को बांध-बांध लेती हो,
एकत्व, द्वैत, त्रित्व, मुझे काल और तापों में
भटकाते चलते हैं।
वंदना के उठते यह हाथ मेरे रोकता है कौन कह देता है
जिसको महान् कहता है तू वह है कहां ?
दीखता है ? रहस्यों की कुंजी तुझे दे गया है कहां कौन ?
व्याकुल है धमनियों में तेरे जो लोहू वह
चाहता है खोलता-सा चुंबन जब
उसे तू सिर को झुका चाहता है ठंडा ही कर देना ?
मुझे बता मुरझाते फूलों की माला जब देवता की वेदी से
लेकर बिखेर देगा तू इस
लो समन्विता सर्वभक्षिणी धूल में
मिलेगा तुझे उस श्रद्धा का मोल भी क्या
जो तू गंधवाही कलियों के उमंगते यौवनों में से
लूट लाया था ?

बूचड़खाना

चिनगारी

'मैदान के कैम्प' की दुर्गंध से लुबनिन-निवासी कांप उठते थे। अंधकार का पाश बनकर विषैला धुआं उस कारखाने की चिमनियों से निकलकर यूरोप के आकाश में मंडरा उठता था। मनुष्यों को भुट्टो की तरह सेंककर वहां राख का ढेर कर दिया जाता था और उनकी आहें धुआं बनकर आकाश से टकराने लगती थीं। चौदह सौ आदमियों का नित्य वहां नरमेध होता था।

'अमृत बाज़ार पत्रिका' में निकला है—बासठ भुखमरे फिर अस्पताल में दाखिल किए गए। तीस मर चुके हैं। केवल दस-बारह निकाले गए।

बूचड़खाना नंबर—1

बूचड़खाना नंबर—2

मानवता कभी पददलित रहकर भी अपना सत्य नहीं छोड़ सकती, क्योंकि, मनुष्य जन्म से पवित्र होता है। लुबनिन का बूचड़खाना बहुत दिन नहीं रहेगा। बंगाल का अकाल भी सदा का नहीं है।

इतिहास के दोनों रूप देखकर भविष्य में स्त्रियां रोयेंगी और पुरुष विस्मय करेंगे। किन्तु मैं अपनी आंखें देख रहा हूं। मुझमें आग जल रही है।

वैभवशालिनी विशाल सड़कें, ट्राम, बस, विक्टोरिया और मोटर एक ओर, और वैभव-की गहरी छाया रिक्शा दूसरी ओर। बड़ी-बड़ी इमारतें, ऊंचे-ऊंचे महल और बगल में मैले टाट से ढके घिनौने घर। गन्दी पकौड़ियां, मैले रसगुल्ले। काम, काम, काम···तनख्वाह नहीं, पैसा नहीं, भूख···भूख···अकाल के बिना आधी जान, अकाल में मौत···अकाल के बाद रोग···रोगों में तड़प और सड़क के डस्टबिनों की भयंकर बदबू, दिमाग फाड़कर सड़ा देने वाली दुर्गन्ध।

रात को कोलाहल। अंधकार। ब्लैक-आउट का गहरा अंधकार। किन्तु मोटर, ट्राम, बस···लारी और कहीं-कहीं रिक्शा वाले की मौत···सिपाही की लाल रोशनी···।

दूर हावड़ा पुल की लाल जगमगाती तीन लाल रोशनियां, जब दिन में दिखने वाले बैलून अंधेरे में गायब, हवाई जहाज की घर्र-घर्र···।

ब्रिटिश साम्राज्य के वैभव का दूसरा डंका। रोम—रोम के बाद बैजन्टाईन। और मुझे कुछ नहीं कहना। किसी को फुर्सत नहीं, अपनी जिन्दगी से अपनी ही सत्ता के बोझ से; एक वैश्या के सुनहले बालों में से गंध आ रही है; मगर भीतर-ही-भीतर वह भयानक रोगों का शिकार हो चुकी है। उसके प्रत्येक चुम्बन में कीड़े हैं, प्रत्येक आलिंगन में सर्वनाश।

और उस हाहाकार में मनुष्य का अवरुद्ध श्वास है। उसकी हलचल का उन्माद आप प्रेत-छाया बनकर उसे डरा रहा है। नहीं !

दूर-दूर तक इमारतें खड़ी हैं। उनके भीतर टुकड़े-टुकड़े मनुष्य हैं, एक-दूसरे पर अविश्वास रखने वाले स्नेह-हीन, केवल पशु···बड़ी-बड़ी बहसें···ऐसेम्बली की भव्य मीनारों से जब वह बातें टकराकर देश में गूंजती हैं तब मैं रोता हूं, फन पटककर मेरा मन प्रतिशोध के लिए फुफकार उठता है और मैकॉले उठाकर हंसता है।

लपट

सारा संसार मुक्ति के लिए युद्ध कर रहा है। करोड़ों आदमी खून बहा रहे हैं। हम सो नहीं रहे हैं। भीषण तूफान में जो नाव डूबने से पल-पल झंकार कर रही हो उसका-सा युद्ध इतिहास ने आज तक कभी नहीं देखा।

चीन के इतिहास में खून है, यूरोप के इतिहास में खून है···हर देश के इतिहास में खून है···।

बीसवीं सदी का इतिहास आजादी के लिए बहता हुआ खून है···।

यह खून युग-युगान्तर से बहता चला आया है और आज भी उसमें उतनी ही गर्मी है, उतना ही जीवन है जितना पहले था। मनुष्य अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं की गुलामी के विरुद्ध उठ रहा है। आज का मनुष्य परम्परा के अनुसार ही हर प्रकार की मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा है। वह अत्याचार की लपटें इसी शक्ति को जलाने का प्रयत्न करती हैं, किन्तु नहीं जला सकतीं; क्योंकि इस्पात को आग नहीं जला सकती। जितना ही यह इस्पात गर्म होता है उतना ही फैलता है, हर चोट से लचक भले ही जाए, मगर टूटता नहीं··।

हमें अपनी पगध्वनि पर विश्वास है···विश्वास है, हम हारे नहीं हैं, हम करोड़ों आगे बढ़ रहे हैं, क्योंकि मायाविनी बाहरी चकमक हमारी आंखें अब चौंधा नहीं खातीं। और रेल में यह जो बर्मा का एक 'इवेक्यूई' मेरे पास बैठा है, उसने मेरे विश्वास को दुहराया है···संसार इसे ही गा रहा है, एक ही गूंज उठ रही है—

'शहीदों ने न कभी सिर झुकाया है, न झुकायेंगे। संसार के दलित एक होने के लिए हिल उठे हैं। यह जंजीरें कड़ियां बनकर एक-दूसरे से जुड़ती जा रही हैं और एक दिन इनके खिचाव में बड़े-से-बड़ा शत्रु चटक जाएगा। अंधकार में जो साहस नहीं हारता, वही वीर है। कब्रों पर हम आंसू बहाकर ही नहीं रहेंगे, आगे जो पथ खुला है महान···स्फूर्ति का विराट स्रोत···।"

(एक अंश)

गोरखनाथ की हिन्दी कविता का महत्त्व

गोरखनाथ की कविता अधिक प्राप्त नहीं; जो प्राप्त है उस पर अधिकार से कुछ कहना तनिक कठिन है। तथ्य के दृष्टिकोण से वह विशेषतया साम्प्रदायिक रचना है। उसमें काव्य के दृष्टिकोण से अधिक महानता नहीं है। तब गोरखनाथ की हिन्दी कविता का महत्व क्या है ?

जिस व्यक्ति के नाम पर संस्कृत के अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं, उसी के नाम के हिन्दी ग्रंथ देखकर यह विचार उठता है कि इस व्यक्ति ने अपनी बात का जन साधारण में प्रचार करने के उद्देश्य से ही हिन्दी का भी सहारा लिया था। किन्तु यह गुण केवल गोरखनाथ में ही हो, ऐसा कहना अनुचित होगा। अन्य सिद्धों, बौद्धों ने भी ऐसा किया है। तब प्रश्न उठता है कि मध्य युग के सन्धिकाल में स्वयंभू आदि बड़े-बड़े कवियों के सामने गोरख का स्थान ही क्या है।

गोरखनाथ की कविता वास्तव में भारतीय इतिहास की एक बहुत बड़ी कड़ी है। मेरे अनुसार हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार न करके इस प्रकार करना पड़ेगा :

1. अपभ्रंश-काल।
2. सन्धियुगीन नाथ सम्प्रदायगत कविता।
3. हिन्दी युग।

अपभ्रंश काल की भाषा तद्भव-प्रधान है। हिन्दी युग की भाषा तत्सम प्रधान है। राहुल जी ने कहा है कि हिन्दी कविता 14वीं शताब्दी में तत्समप्रधान हो गई और उसने अपना रुख बदलकर भाषा का दूसरा रूप धारण कर लिया। इस्लाम के आगमन से भारतीय जनता ने जो अपने को संगठित किया, इसमें उसकी भाषा का भी संगठित स्वरूप दिखाई दिया, क्योंकि संस्कृति से तत्कालीन देशभाषाओं ने अपना पल्ला जोड़ लिया।

प्रश्न उठता है कि तदभव-प्रधान भाषा को तत्सम-प्रधान होने में जो लगभग 500 वर्ष बीत गए, इसमें किस प्रेरणा ने प्रधान कार्य किया ? गोरखनाथ निस्संदेह सन्धियुग के सच्चे प्रतीक हैं। क्योंकि इस प्रकार की भाषा का स्रोत उन्हीं से पहले-पहल प्राप्त होता है। यही सन्धि-युगीन नाथ सम्प्रदायगत कविता की भाषा है। यद्यपि इसका प्राप्त रूप केवल इस ओर इंगित मात्र ही करता है।

आज वह तद्भव-प्रधान भाषा शीघ्र समझ में नहीं आती। तत्सम-प्रधान भाषा समझ में आती है। गोरखनाथ की भाषा के विषय में निम्नलिखित कारण हो सकते है :

1. गोरखनाथ की कोई रचना अब अपने मूल रूप में है ही नहीं।

2. पृथ्वीराज रासो की भांति उसका रूप भी बदल गया है।

ये दोनों तथ्य गम्भीर हैं और काफी सीमा तक अखंड दिखाई देते हैं। किन्तु फिर प्रश्न आता है कि भाषा का जब परिवर्तन हुआ, तो वह क्या आकस्मिक था ? मेरे विचार में तथ्य इस ओर इंगित करते हैं :

1. नाथ सम्प्रदाय की संस्कृत से जानकारी थी।

2. गोरखनाथ स्वयं ब्राह्मण थे। उन्हें संस्कृत अच्छी तरह आती थी। सम्भवतः उनकी भाषा का अन्य सिद्धों की भाषा से कुछ वैसा ही भेद रहा है जैसा तुलसी और जायसी का, अथवा कुछ सीमा तक जैसे सुमित्रानन्दन पंत और बच्चन की भाषा का।

3. उनमें ब्राह्मण प्रभाव शेष था। और बौद्ध-विरोध इसमें सहायक था।

4. उन्होंने उच्च और निम्न समाजों में अपना एक-सा प्रभाव रखने को संस्कृत और देश भाषा का साथ नहीं छोड़ा।

5. नाथ-पंथियों का सेश्वरवाद इस्लाम के आने से अधिक-से-अधिक 'हिन्दू' वातावरण की ओर खिंचता गया और जब सब धर्म किसी-न-किसी रूप में वेद के नीचे आने लगे, तब यह सम्प्रदाय बहुत लाभकर सिद्ध हुआ और इसने संस्कृत को जनता तक पहुंचाया।

6. इसी समय गोरखनाथ की मूल कविता का तद्भव रूप तत्सम भाषा में मंजने लगा और तत्सम के लिए भूमि होने से वह तद्भव के स्थान पर चढ़ने लगा।

7. संतों की वानी में आते-आते हिन्दी इतनी सशक्त हो गई कि तत्कालीन तद्भव और तत्सम दोनों को पचाने की उसमें सामर्थ्य हो गई और देश-भाषा भारत के प्राचीन ज्ञान-भंडार को संभालकर वहन करने के योग्य हो गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के दृष्टिकोण से गोरखनाथ की कविता का एक ऐतिहासिक मूल्य है जिसे समझ लेना आवश्यक है। रामानुज और शंकर को यह महत्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उन्होंने संस्कृति में अपनी रचनाएं की थीं। इसका कारण था कि वे ब्राह्मणवाद से घिरे हुए थे। गोरखनाथ को कोई ऐसे बंधन नहीं थे। गोरखनाथ के युग में अपभ्रंश का रूप अलग-अलग स्थानों में आज की भांति बहुत अलग-अलग नहीं था। भाषा व्यस्त होती जा रही थी और भेद बढ़ते जा रहे थे। उस समय तद्भव के स्थान पर तत्सम का प्रयोग सम्भवतः गोरखनाथ का ऊपर दिए कारणों से पहला प्रयत्न था जिससे परवर्ती युग में लोगों को तिनके का सहारा मिल गया और भाषा अपने-आप दूसरा रूप पकड़ने लगी।

हिन्दी के आदि रूप, अर्थात् अपभ्रंश, की भी रचनाएं अत्यन्त कठिनता से बाहर आ सकती हैं। संभव है खोज होने पर नाथ सम्प्रदाय की रचनाएं भी अपने-अपने वास्तविक स्वरूप में मिल सकें, यद्यपि इसकी आशा अभी तक बहुत कम है क्योंकि :

1. नाथ सम्प्रदाय भारत के बाहर नहीं गया।

2. अपना रूप बदलता रहा।

3. अन्य सम्प्रदायों के संघर्ष करने में इसे बहुत कुछ लेने-देने में स्वरूप परिवर्तन करना पड़ा, तथा

4. इसका सशक्त रूप सन्त परम्परा में अंतर्मुक्त हो गया।

गोरखनाथ सम्प्रदाय के ग्रंथ आज केवल इस ओर इंगित करते हैं कि उसका वास्तविक

स्वरूप कुछ और था। अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की भाषा थी, वह संस्कृत भाषा का परवर्ती रूप था। यह वह समय था जब तदभव-प्रधान भाषा तत्सम-प्रधान होती जा रही थी। जाने और अनजाने ही नाथ सम्प्रदाय की पुस्तकों की भाषा भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी हाथों में चलकर अपना वास्तविक स्वरूप खोती जा रही थी। प्रचार बढ़ाने के साथ-साथ उस पर अप्रान्तीय भेद भी अपना प्रभाव डालते जा रहे थे।

भाषा और तथ्य के दृष्टिकोण के अनन्तर यद्यपि अनेक नए विचार उसमें घुस गए, हमने ऊपर दिए अधिक-से-अधिक पुराने स्वरूप के विचारों को देखा। गोरखनाथ की कविता का कितना भाग हमारी हिन्दी तथा परवर्ती सन्त परम्परा में ज्यों का त्यों उतर आया है या परवर्ती विचार उसमें कितने घुस गए हैं, यह कहना कठिन है। फिर भी इसके पुराने होने से यही अधिक सम्भाव्य लगता है कि सम्भवतः इसके ही विचार आगे चलकर औरों ने अंगीकृत किए हों।

('गोरखनाथ और उनका युग' से)
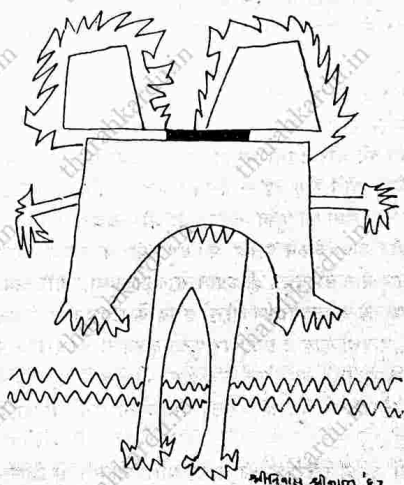
पसन्द अपनी अपनी

□ अलैक्स ला गूमा

[सुप्रसिद्ध दक्षिण अफ्रीकी, अश्वेत उपन्यासकार एवं कहानीकार का जन्म, 20 फरवरी 1925 को केप टाऊन के डिस्ट्रिक्ट छह में हुआ अलैक्स ला गूमा था। राजनैतिक संघर्ष अलैक्स को विरासत में मिला था, चूंकि पिता दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के विरुद्ध संघर्षरत कम्युनिस्ट पार्टी के वरिष्ठ सदस्य थे। स्वयं अलैक्स ला गूमा भी पार्टी के सदस्य रहे।

गोरी सरकार की रंगभेद की नीति की तीखी आलोचना के कारण अलैक्स की पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, यही नहीं, झूठे मुकदमों में फंसा कर उन्हें वर्षों जेल में रखा गया। अन्ततः वह एक प्रवासी के रूप में इंग्लैंड चले गये ताकि लेखन कार्य जारी रख सकें। अलैक्स ला गूमा एफ्रो-एशियाई लेखक संघ के सक्रिय सदस्य तथा प्रसिद्ध पत्रिका 'लोटस' के मुख्य सम्पादक भी रहे।

11 अक्तूबर, 1985 को हवाना में निधन के समय वह क्यूबा में अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस के प्रतिनिधि थे।]

सूरज अब पश्चिम की ओर इतना अधिक लटक आया था कि जीर्ण क्षितिज पर छितराये बादलों के किनारे ऐसे पीले लग रहे थे जैसे कि अंडे की बिखरी हुई ज़र्दी चाइनाब्वाय ने गोल डिब्बे के नीचे जल रही आग को फूंका, खड़ा हुआ और बोला, 'अब इसे उबलना चाहिए।' डिब्बा दो आधी ईंटों और एक चिकने पत्थर पर बहुत ही खतरनाक ढंग से टिका हुआ था। हमने कॉफ़ी बनाने के लिए आग को बहुत ही ध्यान से बढ़ाया था, और अब डिब्बे में भरे पानी को उसी उत्सुकता से देख रहे थे जितना कि औरतें प्रसव के समय।

'लो, हो गया', चाइनाब्वाय ने सतह पर फूटते बुलबुलों को देखकर कहा। उसने पानी को अच्छी तरह उबलने दिया, फिर अपने फटे विंड-ब्रेकर की जेब से बहुत ही ध्यान से मुड़ा-तुड़ा एक छोटा-सा पैकेट निकाला, उसके मुंह को मरोड़ा और ध्यान से कच्ची कॉफ़ी को टिन में हल्के-हल्के डाला।

वह छोटे कद का सफ़ेदी-भरे घुंघराले बालों वाला आदमी था जिसके चौड़े, सौम्य किंतु भारी चेहरे पर शान्ति का भाव ऐसे था जैसे कि उसे सभी काम धीरे-धीरे, ध्यान से और ठीक-ठीक करने की आदत पड़ गई हो। लेकिन उसकी आंखें काली, अण्डाकार, पूर्वदेशी तथा काक्रोचों के जोड़े की तरह चंचल थीं।

'हम इसे कुछ देर तक घुलने देंगे', उसने सलाह दी। उसने पैकेट को संभालकर रख दिया, एक दूसरी जेब से एक फटा-पुराना कपड़ा निकाला, हाथ के इर्द-गिर्द लपेटा और धीरे-से

टिन को आग से उठा लिया और ईंटों के पास ध्यान से रेत पर रख दिया ।

हमने अभी रेलवे का कुछ काम खत्म किया था और अब पटरी के किनारे से कुछ दूरी पर खेमा गाड़े हुए थे जहां कभी साईडिंग रहा होगा । दफ़्तर का लोहे का जंगला अभी भी कायम था जो जगह-जगह से टूटा हुआ था और जंग तथा मकड़ी के जालों से भरा हुआ था । आने-जाने वालों ने बिना छत के अन्दर वाले भाग को गन्दा कर दिया था । चबूतरा भी कई जगह पर टूटा हुआ था तथा उस पर झाडियां उग आईं थीं । सीमेन्ट के किनारे अभी भी कायम थे लेकिन उनमें कई जगह दरारें पड़ गई थीं और वह टूट-फूट से इस तरह ढका हुआ था जैसे किसी भुतहे शहर की स्वागत-पट्टी हो । चाइनाब्वाय ने कन्डेंस्ड दूध के डिब्बे निकाले जिन्हें हम प्यालों के रूप में इस्तेमाल करते थे और उन्हें सजा दिया । मैं एक पुराने स्लीपर पर बैठा हुआ था और कॉफ़ी के ढाले जाने की रस्म का इन्तज़ार कर रहा था । लेकिन रस्म तुरन्त शुरू नहीं हुई क्योंकि चाइनाब्वाय चिथड़े-लिपटे हाथ को टिन पर टिकाये उकड़ू बैठा हुआ था; टिन को उठाने के लिए तैयार था, लेकिन उठा नहीं रहा था । बैठे-बैठे वह हमारी पीठ-पीछे कुछ देख रहा था । मेरे पीछे पोर्ट-जैक्सन की झाड़ी तथा ठाठर के कड़कने और सरसराने की आवाज़ हुई और छोटी-सी सपाट जगह में एक आदमी की छाया दिखाई दी । मैंने पीछे मुड़कर देखा । वह झाड़ियों में से आया था, पतला और नाटा था और उसका पीला-सफेद चेहरा सुनहरी दाढ़ी से भरा हुआ था । उसके चेहरे के गिर्द सलवटों में, आंखों के नीचे तथा गर्दन में काली लाइनें पड़ी हुई थीं । उसके बाल खुरदरे मोटे तथा अनकटे थे । और उसकी गर्दन तथा कनपटियों के चारों ओर बिखरे थे । वह एक पुरानी, बेरंगी तथा गन्दी, पहुंचों पर मुड़ी हुई जीन्स और चमड़े का फटा कोट पहने हुए था ।

वह सपाट मैदान के किनारे पर खड़ा हुआ था, झिझक रहा था, कभी मुझे, कभी चाइनाब्वाय को देख रहा था । उसने अपने गन्दे हाथ के पिछले हिस्से से अपना मुंह पोंछा ।

तब उसने हिचकिचाते हुए कहा, 'मुझे कॉफ़ी की खुशबू आ गई थी । तुम बुरा तो नहीं मानोगे ।'

'ख़ैर', चाइनाब्वाय ने अपनी शांत, सावधान मुस्कराहट के साथ कहा ।

'मैं समझता हूं, तुम्हें इस प्रकार देखकर मुझे बुरा नहीं लगा ।' वह मेरी तरफ़ देखकर मुस्कराया, 'साथी, क्या हम अपने दस्तरख़्वान पर एक मेहमान को जगह दे सकते हैं ?'

'मेरा ख़्याल है हम कुछ मुर्ग-मुस्सलम और हरी मटर अवश्य दे सकते हैं ।'

चाइनाब्वाय ने अजनबी को सिर हिलाया । 'बैठो दोस्त, हम अभी खाने बैठने ही वाले थे ।'

गोरा लड़का शर्म से मुस्कराया, स्लीपर के पास आया, बूट से एक पत्थर को सीधा किया और उस पर बैठ गया । उसने कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ देखा कि कैसे चाइनाब्वाय ने एक और दूध का खाली टिन निकाला, आग पर से डिब्बा उतारा और कॉफ़ी को प्यालों में डाला ।

'अपनी मदद खुद करो, दोस्त । यह मेयर की गार्डन-पार्टी तो है नहीं ।'

लड़के ने प्याले को ध्यान से पकड़ा और भाप को फूंका ।

चाइनाब्वाय ने ज़ोर से कॉफ़ी को सुड़का और कहा, 'साथ में बेक-ब्रेड होनी चाहिए थी । कॉफ़ी के साथ बेक-ब्रेड का मज़ा कुछ और ही है ।'

'हॉट डॉग्ज़', गोरे लड़के ने कहा ।

'हुंअ'

'हॉट डॉग्ज़ । कॉफ़ी के साथ हॉट डॉग्ज़ ही अच्छे लगते हैं ।'

'ओ हां । मैंने सुना है', चाइनाब्वाय ने खीसें निपोरीं । फिर उसने पूछा, 'गोरे तुम कहीं जा रहे हो ?'

'केप टाउन । शायद किसी जहाज़ पर नौकरी मिल जाये और मैं अमेरिका पहुंच जाऊं ।'

'बहुत लोग अमेरिका जाना चाहते हैं,' मैंने कहा ।

गोरे ने कॉफ़ी का घूंट लिया और बोला, 'हां, मैंने सुना है कि वहां पैसा भी बहुत है और खाने को भी काफ़ी है ।'

'खाने की बात से याद आया,' चाइनाब्वाय ने कहा, 'मैंने एक बार एक किताब में तस्वीरें देखीं थीं, अमरीकी किताब में । किताब वहां के खानों के बारे में थी । फ्राइड चिकन का ढेर, मक्का—जिसे वे कॉर्न कहते हैं—मशरूम, ग्रेवी के साथ, चिप्स और हरी मटर भी । सभी कुछ रंगीन था ।'

'मुझे रोस्ट लैम्ब देना,' मैंने कटाक्ष किया ।

'दोस्त,' गोरे ने खेल का मज़ा लेते हुए कहा, 'मुझे ऐसी किसी जगह पहुंच तो लेने दो, फिर देखना मैं तब तक खाता रहूंगा जब तक कि मेरा पेट फट न जाये ।'

चाइनाब्वाय ने कुछ कॉफी गले में उंड़ेली : 'एक बार, जब मैं छोटा था, मैंने वेटर के रूप में काम किया था, एक बड़े कैफ़े में तुम्हें देखना चाहिए था कि वे हरामज़ादे क्या कुछ खाते थे । बस बैठे रहते और ठूंसते रहते । कुछ फ्रेंच खाना भी होता था, पैरी ग्रास या ऐसा ही कुछ ।'

मैंने कहा, 'तुम्हें याद है जब हम शराब पीने गए थे और दस दिन की कैद मिली थी ? हम मक्का और बीन्स उस समय तक खाते रहे थे जब तक वे हमारे कानों बाहर नहीं निकल आईं थीं ।'

चाइनाब्वाय ने तरंग में कहा, 'मैं एक दिन किसी बढ़िया कैफ़े में बैठकर ढेर-सा मुर्ग-मुस्सलम, भुने हुए आलू, बीन-सलाद और शाही टुकड़ा खाना चाहूंगा । पोर्ट और सिगार आखिर में ।'

'हैल्ल', गोरे ने कहा, 'यह तो अपनी-अपनी पसन्द है । कुछ लोग चिकन पसन्द करते हैं और कुछ भेड़ का सिर और बीन्स खाते हैं !'

'अपनी-अपनी पसन्द !' चाइनाब्वाय गुर्राया । 'बकवास यह तो पैसे का खेल है दोस्त । मैंने उस कैफे में छह महीने काम किया लेकिन मैंने आज तक किसी को भेड़ का सिर और बीन्स का आर्डर देते नहीं देखा !'

'तुमने उस आदमी के बारे में सुना है न जो एक कैफ़े में गया ?' गोरे ने बची हुई कॉफी टिन के प्याले में डालते हुए पूछा । 'वह बैठा, सैंडविच का पैकेट निकाला और मेज़ पर रख दिया । फिर वेटर को बुलाया और पानी के एक गिलास का आर्डर दिया । जब वेटर पानी लाया तो वह आदमी बोला, 'बैंड क्यों नहीं बज रहा ?'

हम इस पर हंसे । चाइनाब्वाय का तो गला ही अवरुद्ध हो गया । उसने गला खंखार कर थूका और कहा : 'एक और बुझक्कड़ एक कैफ़े में गया तथा सॉसेज और मैश का आर्डर दिया । जब वेटर सामान लाया तो उसने एक नज़र डाली और कहा, 'प्यारे दोस्त, तुम प्लेट चटकी हुई लाए हो ।' 'हैल्ल', वेटर ने कहा, 'यह प्लेट की चटक नहीं सॉसेज है ।'

जब हम इस पर हंस चुके तो चाइनाब्वाय ने पश्चिम की दिशा में आकाश पर देखा। सूरज लगभग डूब चुका था और क्षितिज पर बादल खून से सने चिथड़ों की तरह छितराये हुए थे। ठाठर और पोर्ट जैक्सन हल्की हवा में हिल रहे थे और रेलवे लाइन से दूर एक कुत्ता ऊंची टैं-टैं में भौंक रहा था।

चाइनाब्वाय ने कहा, 'सात बजे के करीब एक खाली मालगाड़ी यहां से गुज़रेगी। हम इस गोरे को उस पर चढ़ने में मदद करेंगे ताकि यह केप टाउन पहुंच जाए। लेकिन मेरा ख़्याल है कुछ पोर्क चॉप्स और प्याज़ के लिए अभी वक्त है।' वह गोरे को देखकर हंसा। 'जैसे ही हम स्वीट डिश खा चुकेंगे, हम कुछ दूर चलेंगे। वहां एक मोड़ है जो गाड़ी में कूदने के लिए सबसे अच्छी जगह है। हम तुम्हें दिखाएंगे।'

उसने ज़ोर से हाथ हिलाकर मुझे इशारा किया, 'जॉन, वत्तख पेश करो!' मैंने बची हुई कॉफ़ी टिन के प्यालों में डाली। आग अब बुझकर अंगारों में बदल चुकी थी। गोरे ने अपने लैदर-कोट की जेब में हाथ डाला और सिगरेट का मुड़ा-तुड़ा पैकेट निकाला। सिर्फ़ तीन बची थीं जिन्हें उसने घुमाया। हर एक ने एक ले ली। चाइनाब्वाय ने आग में से एक शाख उठाई और हमने सिगरेटें सुलगा लीं।

'अच्छा सिगार है यह,' उसने सिगरेट के सुलगते किनारे को देखते हुए कहा।

जब तक कॉफ़ी और सिगरेट खत्म हो, सूरज पूरी तरह डूब चुका था और सभी ओर नारंगी रंग के साये फैल गए थे। ठाठर और पोर्ट जैक्सन की चोटियों के साये ड्रैगनों के झुंड-से लग रहे थे।

हम सांझ के झुटपुटे में पटरी के साथ-साथ चलते रहे, खंडहर-साइडिंग को पार किया; आकाश की पृष्ठभूमि में स्टेशन-घर का खोल खंडित कब्रिस्तान के पत्थर की तरह लग रहा था। दूर, गाड़ी की सीटी सुनाई दी।

'यही है वह जगह,' चाइनाब्वाय ने गोरे से कहा। 'यह मालगाड़ी लम्बी है। जब मुड़ेगी तो न तो ड्राइवर ही तुम्हें देख पाएगा और न ही गार्ड-वैन का ठग। तुम उस समय कूदना जब इंजन आंखों से ओझल हो जाए। गाड़ी धीरे-धीरे पहाड़ी पर चढ़ेगी, इसलिए तुम्हारे लिए अच्छा मौका होगा। सिर्फ़ मेरे 'अब' कहने का इन्तज़ार करो। हैल्ल, यह तो ऐसे ही है जैसे कोई शराब डालने वाले से कहे,' जैसे ही वह मुस्कराया, अंधेरे में उसके दांत चमक उठे। तब गोरे ने हाथ निकाला, चाइनाब्वाय ने मिलाया, और फिर मैंने।

'खाने के लिए शुक्रिया, दोस्तो,' गोरे ने कहा।

'फिर आना, कभी भी,' मैंने कहा, 'हम कोशिश करेंगे कि मेज़पोश भी हो।'

पटरी के किनारे, पोर्ट-जैक्सन के साये में हम इन्तजार कर रहे थे और गाड़ी खांसती, फूलती सांस से चढ़ाई चढ़ रही थी। उसका हैडलैम्प अंधेरे में एक बड़ा छेद बना रहा था। जैसे जैसे ही सूं-सूं करता इंजन गड़गड़ाते हुए हमारे पास से गुजरा हम उसकी नजर से बचने के लिए नीचे झुके। फिर आई इंजन-गाड़ी। उसके बाद एक-दो बक्सेनुमा डिब्बे और फिर कोयलों के डिब्बे, एक सपाट डिब्बा और फिर एक बक्सानुमा डिब्बा। इंजन नजर से ओझल हो गया था।

'लो, अब,' चाइनाब्वाय ने कहा और लड़के को आगे धकेला। हम गाड़ी के करीब खड़े थे और उसके गुजरने की आवाज सुन रहे थे। 'यह जो कोयले का डिब्बा आ रहा है न, इसे पकड़ लो, चाइनाब्वाय ने समझाया। 'और, खुदा हाफ़िज, दोस्त।' कोयले का डिब्बा आया,

गोरा साये से बाहर निकला और उसने डिब्बे के परले सिरे पर लोहे की पकड़ को देखा। फिर वह हिस्सा उसके सामने आ गया। उसने हाथ बढ़ाया, पकड़ा और छोड़ा नहीं। फिर पैर जमाया हमसे धीरे-धीरे दूर होते हुए।

हमने उसे लटके हुए देखा, वह डिब्बे के किनारे तक पहुंचा और चढ़ गया। गुज़रती हुई गाड़ी में हमने उसे डिब्बे के किनारे पर बैठे हुए देखा। उसका हाथ सलाम के लिए उठा हुआ था हमने भी अपने हाथ उठा दिए।

'बैण्ड क्यों नहीं बज रहा, हैल्ल,' चाइनाब्वाय ने कहा।

अनुवाद : **हरीश नारंग**

कहानी

बड़ा दिन

☐ अवधेश कुमार

मणि मेस में लंच के लिए जा चुका था। हॉस्टल के लगभग सभी कमरे खाली थे। सर्दियों की लंबी छुट्टियां पड़ चुकी थीं। सामने पहाड़ वर्फ़ से ढंके थे। बाहर नीचे बरामदे में चारपाइयों के ऊपर जीन्स और धुली हुई पगड़ियां पड़ी हुई थीं। उपर से एक-दो लड़के बातें करते हुए उतर रहे थे और माली भी छुट्टी कर गया था।

मणि का रूम-पार्टनर उस वक़्त कच्ची नींद में था और मेरी आहट पा कर आंखें मलता हुआ उठ बैठा था। सरदार लड़के के बाद यह एक नेपाली छोकरा था जो दो हफ़्ते पहले ही मणि के कमरे में शिफ़्ट हुआ था। मणि का यह कमरा हॉस्टल के आखिरी छोर पर था और केवल इसी के बाहर गुलमोहर के दो कम उम्र पेड़ खड़े थे। सिर्फ़ पढ़ाई में यकीन रखने वाले लड़के ही इस कमरे के खाली होने या आसपास के कमरों में डेरा डालने की फिराक में रहते थे क्योंकि यहां वास्तव में एकांत था और कॉलेज या हॉस्टल की सारी सरगर्मियों और खुराफातों से दूर रहकर शांति से पढ़ाई में मन लगाया जा सकता था। किंतु वार्डन साहब हर किसी को मणि का रूम-पार्टनर बना कर नहीं भेजते थे; और न ही आसपास के कमरों में कोई ऐसा वैसा लड़का टिका था। सभी पढ़ाकू और अव्वल आने वाले किस्म के थे। वार्डन साहब मणि को डिस्टर्ब न करने की खास हिदायत देते हुए, टाइम की पंक्चुआलिटी और ज्यादातर समय पढ़ाई में लगाने का वादा ले चुकने के बाद ही किसी लड़के को इस तरफ़ एकमोडेट करते थे।

कमरे के भीतर पहुंच जाने पर मणि के रूम-पार्टनर ने अपना हाथ मेरे हाथ से मिलाने के बाद झट से वापस रजाई में दुबका लिया। हीटर पास में ही तीखी आंच दे रहा था और उसके तकिए के पास एक मोटी-सी किताब खुली पड़ी थी। वह लॉ के सेकेन्ड इयर का विद्यार्थी था और मणि की पसन्द के नेपाली गाने अक्सर आधी रात तक गा कर सुनाता रहता था। वह गाता और मणि अपने में पूरी तरह से डूब कर कैनवस पर रंग लगाने लगता।

मैंने कमरे में एक बार चारों तरफ नज़रें दौड़ाईं तो पाया कि वहां पहले से रखे हुए बहुत-से पूरे और अधूरे केनवास अब वहां नहीं थे। जिस कुर्सी की टेक लगाकर मणि कैनवस खड़े रखता था उसकी स्थिति भी बदल चुकी थी और उसका पेंटिंग का सामान भी कम-सा दिखाई दे रहा था।

मणि के बिस्तर के पैताने एक सस्ता कम्बल दोहरी तह में बिछा हुआ था और दीवार पर कोई भी भारी गरम कपड़ा नहीं टंगा था। लगता था कि रात को मणि काफ़ी देर तक काम नहीं कर पाता होगा। दिन में वह क्लास खत्म करके अक्सर गांधी पार्क या घंटाघर चौक चला

गोरा साये से बाहर निकला और उसने डिब्बे के परले सिरे पर लोहे की पकड़ को देखा। फिर वह हिस्सा उसके सामने आ गया। उसने हाथ बढ़ाया, पकड़ा और छोड़ा नहीं। फिर पैर जमाया हमसे धीरे-धीरे दूर होते हुए।

हमने उसे लटके हुए देखा, वह डिब्बे के किनारे तक पहुंचा और चढ़ गया। गुज़रती हुई गाड़ी में हमने उसे डिब्बे के किनारे पर बैठे हुए देखा। उसका हाथ सलाम के लिए उठा हुआ था हमने भी अपने हाथ उठा दिए।

'बैण्ड क्यों नहीं बज रहा, हैल्ल,' चाइनाब्वाय ने कहा।

अनुवाद : **हरीश नारंग**

कहानी

बड़ा दिन

□ अवधेश कुमार

मणि मेस में लंच के लिए जा चुका था। हॉस्टल के लगभग सभी कमरे खाली थे। सर्दियों की लंबी छुट्टियां पड़ चुकी थीं। सामने पहाड़ वर्फ़ से ढंके थे। बाहर नीचे बरामदे में चारपाइयों के ऊपर जीन्स और धुली हुई पगड़ियां पड़ी हुई थीं। उपर से एक-दो लड़के बातें करते हुए उतर रहे थे और माली भी छुट्टी कर गया था।

मणि का रूम-पार्टनर उस वक़्त कच्ची नींद में था और मेरी आहट पा कर आंखें मलता हुआ उठ बैठा था। सरदार लड़के के बाद यह एक नेपाली छोकरा था जो दो हफ़्ते पहले ही मणि के कमरे में शिफ़्ट हुआ था। मणि का यह कमरा हॉस्टल के आखिरी छोर पर था और केवल इसी के बाहर गुलमोहर के दो कम उम्र पेड़ खड़े थे। सिर्फ़ पढ़ाई में यकीन रखने वाले लड़के ही इस कमरे के खाली होने या आसपास के कमरों में डेरा डालने की फिराक में रहते थे क्योंकि यहां वास्तव में एकांत था और कॉलेज या हॉस्टल की सारी सरगर्मियों और खुराफातों से दूर रहकर शांति से पढ़ाई में मन लगाया जा सकता था। किंतु वार्डन साहब हर किसी को मणि का रूम-पार्टनर बना कर नहीं भेजते थे; और न ही आसपास के कमरों में कोई ऐसा वैसा लड़का टिका था। सभी पढ़ाकू और अव्वल आने वाले किस्म के थे। वार्डन साहब मणि को डिस्टर्ब न करने की खास हिदायत देते हुए, टाइम की पंक्चुआलिटी और ज़्यादातर समय पढ़ाई में लगाने का वादा ले चुकने के बाद ही किसी लड़के को इस तरफ एकमोडेट करते थे।

कमरे के भीतर पहुंच जाने पर मणि के रूम-पार्टनर ने अपना हाथ मेरे हाथ से मिलाने के बाद झट से वापस रजाई में दुबका लिया। हीटर पास में ही तीखी आंच दे रहा था और उसके तकिए के पास एक मोटी-सी किताब खुली पड़ी थी। वह लॉ के सेकेन्ड इयर का विद्यार्थी था और मणि की पसन्द के नेपाली गाने अक्सर आधी रात तक गा कर सुनाता रहता था। वह गाता और मणि अपने में पूरी तरह से डूब कर कैनवस पर रंग लगाने लगता।

मैंने कमरे में एक बार चारों तरफ नजरें दौड़ाईं तो पाया कि वहां पहले से रखे हुए बहुत-से पूरे और अधूरे केनवास अब वहां नहीं थे। जिस कुर्सी की टेक लगाकर मणि कैनवस खड़े रखता था उसकी स्थिति भी बदल चुकी थी और उसका पेंटिंग का सामान भी कम-सा दिखाई दे रहा था।

मणि के बिस्तर के पैताने एक सस्ता कम्बल दोहरी तह में बिछा हुआ था और दीवार पर कोई भी भारी गरम कपड़ा नहीं टंगा था। लगता था कि रात को मणि काफी देर तक काम नहीं कर पाता होगा। दिन में वह क्लास खत्म करके अक्सर गांधी पार्क या घंटाघर चौक चला

जाता था स्केचिंग करने, या बॉटेनिकल गार्डन की तरफ वाटर कलर में नेचर करने के लिए निकल जाया करता था।

मणि ने मुझे दिन में थोड़ा जल्दी ही पहुंच जाने को कहा था। हम दोनों जाड़ों की छुट्टियों में कुछ करना चाहते थे। पैसे हम दोनों ही में से किसी के पास नहीं थे। इसीलिए हमने क्रिसमिस पर ग्रीटिंग-कार्ड्स बना कर बेचने का प्रोग्राम बनाया था। पिछले साल भी हमने ऐसा ही किया था। लेकिन जो कुछ हमारे साथ उस समय गुजरा था उसे भूल जाना ही बेहतर समझ कर हम इस बार दोबारा ताज़े उत्साह के साथ नए सिरे से नए कार्ड्स बनाने की सोच रहे थे।

पिछली दीवाली को हमने अपने मित्रों को हाथ से बने हुए ग्रीटिंग-कार्ड्स दिए थे, जिन्हें सबने बहुत पसन्द किया था। हमारी क्लास के एक साथी साहू ने मेरे और मणि के ग्रीटिंग-कार्ड्स की खुले आम नकल करके बड़े कैनवस पर उन्हें पेंट किया; और अपनी इंडिविजुअल एग्जीबीशन में टांग दिया। उनमें से एक वी० सी० ने और दूसरा डी० एम० ने देखते ही देखते खरीद लिया। हम सबने इसे एक दुःस्वप्न की तरह देखा लेकिन उस समय कोई भी किसी तरह का कुछ भी बोलने का दुस्साहस नहीं कर पाया। हम दोनों एकांत मगर आहत जैसे सकते में आ गए थे और उस शाम मणि के कमरे में घंटों चुपचाप बैठे रहे थे। कई दिनों बाद पता चला कि हेड ऑफ द डिपार्टमेंट मिस्टर एच० के० श्रीवास्तव को इसका पहले से ही पता था; लेकिन साहू उनका सबसे चेहता स्टूडेण्ट था इसलिए उन्होंने उसे धिक्कारने के बजाय कहना चाहिए कि बल्कि प्रोत्साहन ही दिया था। तबसे हेड और हमारे बीच खटक गई थी।

तभी मणि आ पहुंचा और आते ही कुर्सी पर निढाल-सा बैठ गया।

'मोटा मिला होगा'—मैंने उसे छेड़ा।

'हां, उसे पता चल गया है कि हम परसों चर्च पर अपने कार्ड्स, बेचेंगे।'

'तो?'

'वह वहां पर हमें देखने आएगा।'

'आने दो, देख लेंगे।'—मैंने लापरवाही से हवा में अपना हाथ लहराया और मणि को लेकर कमरे से बाहर निकल आया। फिर हम इधर-उधर की बातें करते हुए कॉलेज के सुनसान धूप भरे रास्तों पर टहलते रहे।

बड़े दिन के रोज़ हम सुबह सात बजे तक चर्च पर पहुंच गए। दो सफेद धुली चादरें एक पेड़ के नीचे बने सीमेंट के चबूतरे पर बिछा कर हमने अपने-अपने कार्ड्स उन पर तरतीब से लगा दिए।

थोड़ी देर बाद एक गुब्बारेवाला, उसके बाद एक पॉपकॉर्न वाला और उसके बाद एक धर्मोपदेशक हिन्दी में छपी हुई इसाई धर्म की प्रचार पुस्तिकाएं अपने हाथ में थामे हुए मेरी बगल में आ खड़ा हुआ। उस जगह जैसे एक मिनी बाजार-सा लग गया।

चर्च के भीतर प्रार्थना शुरू हो गई और गिरजे का घंटा रह-रह कर बजने लगा। लोगबाग आने शुरू हुए और घंटे आध घंटे में ही वहां काफी भीड़ जमा हो गई।

मैंने गौर से लोगों को देखा। उनमें से अधिकतर हिन्दुस्तानी इसाई ही थे जो जानी-अनजानी वजहों से अपने पूर्वजों के मूल धर्मों को छोड़कर इसाईयत की शरण में आए थे। उनमें से किसी ने भी सूट या चेस्टर जैसे कीमती गरम कपड़े नहीं पहन रखे थे और उनके चेहरे पर एक साधारण से कुछ थोड़ी ही अधिक खुशी पुती हुई थी। बच्चे कुछ ज्यादा चंचल जरूर थे लेकिन फिर भी उनमें सहज खुलापन नहीं था। लोग चर्च के भीतर जाते, बाहर निकलते और दुआ सलाम करते हुए अपने घरों की तरफ लौट पड़ते।

इसी बीच न जाने कहां से बहुत-से भिखारी आकर हमारे आसपास ज़मीन पर बिछी बजरी के ऊपर बैठ गए। उनके आने से हमारा चबूतरा कुछ छुप-सा गया। मणि ने झट से अपनी स्केच बुक निकाली और भिखारियों के रेखांकन करने में व्यस्त हो गया।

मुझे अचानक ख़्याल आया कि हमारे हेड ने भी हमें देखने के लिए आने को कहा था। अगर वह इसी वक्त यहां पहुंच जाएं तो हमारी दशा निश्चित रूप से दयनीय हो उठेगी।

फिर भी मुझे पता नहीं कैसी अवश उम्मीद थी—फीकी और निराशा से भरी हुई।

हमारी तरफ सिर्फ़ एक लड़की आई। आठेक साल की रही होगी। उसकी मुट्ठियों में कुछ भिचा था। वह काफी देर तक उन कार्डों को देखती तो रही मगर किसी संकोचवश कोई कार्ड उठा नहीं पा रही थी। उसके इस तरह खड़े रहने पर मैं असहजता के साथ चुस्त हो उठा। भिखारियों की वजह से मक्खियों और दुर्गंध की असहनीय भनभनाहट हवा में तैर रही थी लेकिन उस बच्ची का पूरा ध्यान उन कार्डों पर ही टिका था। मणि भी थोड़ी दूर पर बैठा भिखारियों के स्केच करने में तल्लीन था।

'ले लो, बेटे'—मैंने लड़की को प्रोत्साहित किया।

लड़की ने सबसे छोटा कार्ड उठाकर पूछा—'हाऊ मच ?'

'वन रूपी ओनली—सिर्फ़ एक रुपया।'—मैंने मुस्कुरा कर उसे एक झिझक के साथ बताया।

पीछे से उस लड़की के परिवार की किसी महिला ने उसे ऊंची आवाज़ में पुकारा।

'वेट, आंटी, वेट। लेट मी सी दीज़ प्रेटी कार्ड्स'—लड़की ने सिर घुमा कर महिला को जवाब दिया और पलट कर मुझसे फिर पूछा—'प्रिंटेड और हैण्डमेड ?'

'हैंडमेड बेबी, रीयली हैंडमेड'—मैंने अधिक आत्मीयता से जवाब दिया था लेकिन पाया कि अचानक लड़की का हाथ और चेहरा दोनों एकदम से ठिठक गए।

'सॉरी' उसने मुझसे नजरें मिलाए बगैर कार्ड को वापस उसकी जगह पर रख दिया और अपने परिवार के पास चली गई। कुछ देर बाद मैंने उसे गेट से बाहर जाते हुए देखा। उसके पास गैस का एक बड़ा-सा गुब्बारा था जो अचानक उसके हाथ से छूटा और तेजी से आसमान में ऊपर उठता हुआ यूकेलिप्टस के ऊंचे पेड़ों के पार जाकर आंखों से ओझल हो गया। उस अचानक से क्षण में मैं उस बच्ची और उसके परिवार वालों की प्रतिक्रिया भी नहीं जान सकता था क्योंकि तब तक वे सड़क के पार जा चुके थे और उन्हें देखा नहीं जा सकता था।

फिर उसके बाद हमारे कार्डों की तरफ कोई नहीं आया।

दस-पन्द्रह मिनट बाद ही मणि भी अपना काम पूरा करके मेरे पास आ गया और कार्ड्स की तरफ देखकर मुस्कराया। मैंने चुपचाप उन्हें इकट्ठा करके अपनी-अपनी ढेरियों में

बांट दिया । मणि ने अपनी स्केचबुक के साथ लापरवाही से अपने कार्ड्स झोले में डाल लिए। मैंने अपने कार्ड्स बेतरतीबी से चादर में लपेटे और गठरी को साइकिल के कैरियर में फंसा दिया।

हम बिना किसी से कुछ बोले चर्च की चाहरदीवारी से बाहर निकले और हॉस्टल की तरफ चल दिए।

दिन चढ़ आया था । गर्मियां होतीं तो इस समय दोपहरी भरी होती और भांय-भांय करती हुई भाप के इंजन की तरह चारों तरफ दहकती हुई राख के कण बिखराती हुई चलती। लेकिन दिसम्बर के खुले धूपीले दिन में सारी दुनिया बहुत सुथरी और निढाल-सी नजर आ रही थी, जैसे कोई सुखी रईस धूप में अधलेटा सा निश्चित पड़ा हो। रास्ते के किनारे झाड़ियों में जंगली सफेद गुलाब खिले हुए थे और मकानों की टीन की छतें धूप में चमक रहीं थीं।

तभी सामने से हेड ऑफ द डिपार्टमेंट आते हुए दिखाई पड़े । मैंने मणि की तरफ देखा। उसने भी मेरी तरफ देखा । हम दोनों मुस्करा उठे ।

हेड साहव साइकिल रोक कर अपनी भारी-भरकम तोंद सम्हालते हुए उतरे और हांफते हुए हमारी साइड में आ गए ।

'कहो वेटा, कुछ बिक्री हुई ?'—उन्होंने अधीरता से पूछा।

'जी सर, वीस रुपए के मणि के और पन्द्रह रुपये के मेरे कार्ड्स सेल हुए । एक प्रेस वाला भी आया था उसने हम दोनों को अपने घर पर बुलाया है। वो हमसे कांट्रैक्ट करना चाहता है।'

'वेरी गुड, शावाश ।' हेड साहब ने अटकते हुए कहा । ज़रूर ही उन्हें कोई अप्रत्याशित-सा धक्का लगा होगा।

मैंने जो झूठ उनसे बोला था वो शायद किसी सच की ताकत से निकला था । सामने खड़े इस गेंडे और मगरमच्छनुमा शख्स ने मेरे और मणि के केरियर को चौपट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी क्योंकि यह मोटा मास्टर हमसे इसलिए खफा था कि हम चमचेबाजी करते हुए उसकी छत्रछाया में न रह कर अपना अलग व्यक्तित्व बनाना चाहते थे। वह हमारी आज़ादख्याली और मौलिकता के प्रति हमारे आग्रह से डरता था और अपने को ज़बरदस्ती हम पर लादना चाहता था । जिसका हम सतत विरोध करते रहे थे और वह भी अपने दांव दिखाने से बाज न आता था।

उस वक़्त जैसे मेरा पूरा वजूद एक जहरबुझे तीर में बदल गया और मेरे भीतर के क्रोध का तापमान उबलने के करीब पहुंच गया—'और सर, अब हम समझते हैं कि आपको हम अपना और शोषण नहीं करने देंगे ।' हम इस सेशन से कॉलेज छोड़ कर बाजार की पटरी पर बैठने का फैसला कर चुके हैं।

हेड साहब का चेहरा यह सुनकर फक्क पड़ गया । मणि ने जबरन मुझे ठेलकर आगे बढ़ाया।

'सॉरी सर, मेस बंद होने वाला होगा। फिर मिलेंगे ।' उस लम्हे से मैंने पीछे पलटकर नहीं देखा और मरियल लेकिन ठोस चाल से आगे तब बढ़ता चला गया । तनाव के असंख्य लम्बे क्षणों के बाद जैसे मैंने मणि को अपनी बगल में चुपचाप चलते हुए पाया ।

चलते-चलते सामने चौराहा आ गया ।

कॉलिज की तरफ तीन रास्ते जाते थे ।

दाएं वाला रास्ता सीधा हॉस्टल पहुंचाता था।

बीच वाला रास्ता कॉलेज के मेन गेट पर ; और बाएं वाला गली में से होते हुए कॉलेज के बगलवाले दरवाज़े तक।

मैंने मणि से कहा, 'तू जल्दी इधर से जा सीधे हॉस्टल, पंडित तेरा खाना लिए बैठा होगा। मैं थोड़ी देर बाद पहुंचता हूं। इस गली में किसी से मिलना है।

मणि ने राजी में सिर हिलाया और मस्त चाल से आगे बढ़ गया। मैं भी साइकिल पर चढ़ा और तेज़ी से गली में घुस गया। गली के दूसरे या तीसरे मोड़ पर था वह कूड़ाघर।

मैं साइकिल से उतरा। स्टैंड लगाया और आसपास देखा। एक-दो आदमी पास से गुज़रे और गली एकदम सुनसान हो गई सिर्फ़ किसी घर के दुमंजिले से ट्रांजिस्टर पर कोई फ़िल्मी गीत बज रहा था।

मैंने झट से चादर कैरियर से उतारी और उसे खोल डाला। उसमें से सोर कार्ड्स निकाल कर पहले उनकी चिंदियां-चिंदियां कीं और बाद में उन्हें कूड़ेघर में झोंक दिया।

अब मैं हल्का था।

फिर गुलमोहर के उन दो कम उम्र पेड़ों तक पहुंचते-पहुंचते मैं और कुछ नहीं सोच पाया। मणि अभी मेस से वापस नहीं लौटा था। मैंने साइकिल से चादर उतार कर ज़मीन पर बिछा दी। इसी बीच गुलमोहर की बारीक पीली कमज़ोर पत्तियां चादर पर झरने लगीं। मैं चुपचाप चादर पर लेट गया और डालियों से छन कर आती हुई बड़े दिन की ठंडी धूप से अपने भीतर के किसी सीलन भरे कोने को सेंकने लगा।

[**अवधेश कुमार**, ९०, कृष्णा गली, देहरादून-248001 (उ० प्र०)]

पुराने नगरों में

☐ सोमदत्त

सुबह हम रेस्तरां में नाश्ता करके तैयार हुए। बाहर आए। नोवोस्ती प्रतिनिधि की प्रतीक्षा थी।

साढ़े नौ बजे तीसेक बरस का एक युवक आया। बदन ऐसा, जैसा जिमनास्टों का होता है। मझोला कद-गाल पे अनवनी एक रोज वढ़ी दाढ़ी। सिर पर छोटे-छोटे बाल। लम्बी नाक। काली सजग आंखें। नीली सूती बनियान और टेरीकाट की काली पेंट। परिचय हुआ। व्लादीमार प्रेक्रिश्विली। नोवोस्ती प्रेस एजेंसी के ज्यार्जियन व्यूरो के उपप्रमुख हैं। हंसे, हाथ मिलाते वक्त तो हंसी से लगा सहज आदमी हैं।

गाड़ी में बैठते पता चला कि दिन की शुरूआत ज्यार्जिया की पुरानी राजधानी 'मत्स्खेता' की यात्रा से होगी बिलिसी तो नई राजधानी है। यह उचित भी था कि किसी नगर को, क्षेत्र को, देखने का सिलसिला उसके पुराने दिनों से शुरू हो।

इस समय हम जिस सड़क पर हैं—उसका नाम है 'ज्यार्जियाई सैनिक मार्ग' लगभग 200 किलोमीटर लम्बी यह सड़क अपने आसपास के प्राकृतिक सौन्दर्य की वजह से दुनिया की सबसे खूबसूरत सड़कों में से एक गिनी जाती है। ज्यादातर वक्त यह कॉकेशियन पर्वत शृंखलाओं के बीच बसी कूरा घाटी और कूरा नदी के बीच चलती है। काली चट्टानों के पहाड़ हरियाली से भरे हैं।

लेकिन यह विचित्र नाम क्यों, इस सड़क का! दुनिया में शायद इकलौता।

इसलिए कि, 19वीं सदी में जब रूसी ज़ार ने यह तय किया कि रूस और ज्यार्जिया को पहाड़ों के बीच से गुजराती (पहाड़ों को काटकर बनाई गई) एक सड़क से जोड़ा जाय तब सड़क निर्माण का काम पहले नागरिकों के संगठन को सौंपा गया। उनका बस न चला नदियों-पहाड़ों पर, तो सेना तैनात की गई और उसने यह काम पूरा किया। इसलिए यह नाम मिला सड़क को।

बातों ही बातों में जाना (बाद में पोथियों से भी) कि रूस और ज्यार्जिया के बीच हुई सुरक्षा संधि और अंततः रूसी साम्राज्य में उसके विलय के पीछे भी ऐतिहासिक कारण थे।

ज्यार्जिया दुनिया के उन कुछ इलाकों में से है जहां वानराकृति मानव (त्बिलिसी के पास ही कहीं)—'ऊदाब्नोपिथेकस' के अवशेष पाए गए थे। यानी यह धरती आदि मानवों के कुछ इने-गिने मुकामों में से एक थी। इसी क्षेत्र में नवपाषाण काल के श्मसान और आवासीय गृहों के अवशेष भी पाए गए। क्यों न हो—पर्वतों, घाटियों, गर्म पानी के झरनों, नाना प्रकार

के फलों-फूलों से भरी यह शस्य श्यामला 'कूरा घाटी' किसी के भी रहने के लिए आदर्श जगह है। पुरातत्ववेत्ताओं को इस भूमि की खुदाई में ईसा पूर्व तीसरी और दूसरी शताब्दियों के सिक्के मिले हैं। लेकिन त्बिलिसी नगर वास्तव में चौथी शताब्दी के आसपास बसना शुरू हुआ। सन् 458 ईस्वी में तो महाराज वाख्तांग गोर्गासली ने इसे अपनी राजधानी ही बना लिया। इसके पहले पूर्वी ज्यार्जिया की राजधानी 'मत्स्खेता' थी!

राजधानी बदल को लेकर एक जनश्रुति है—कहते हैं—इबेरियन वंश का राजा गोर्गास्ली एक बार अपनी पुरानी राजधानी 'मत्स्खेता' से शिकार को निकला। हिरण के पीछे भागते-भागते अचानक वाख्तांग को एक तीतर नज़र आ गया। उनका तीर खाके वह घायल तीतर, इस इलाके के गर्म पानी के किसी झरने में गिर गया। खोजने पर वह तीतर जब उन्हें मिला तब उसका घाव भर चुका था। कहते हैं इसी घटना ने उसे अपनी राजधानी 'त्बिलिसी' लाने की प्रेरणा दी।

ज्यार्जियाई में 'त्बिली' शब्द का अर्थ है 'ऊष्ण'। लेकिन जानकार जिद्दियों का कहना है कि उस दूरदर्शी राजा ने इस क्षेत्र को सुरक्षा की दृष्टि से बेहतर पाने के साथ ही (जो उन दिनों अत्यंत महत्वपूर्ण था) इस कारण भी चुना कि यहां एशिया और यूरप को जोड़ने वाले पुराने मार्ग मिलते थे। 502 ईस्वी में वाख्तांग की मृत्यु के बाद उनके बेटे महाराज (ज़ार) दाची ने 'त्बिलिसी' में बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य जारी रखे और उस परकोटे को पूरा किया जिसे उसके पिता अधूरा छोड़ गए थे।

इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि उपजाऊ धरतियों, विकसित संस्कृतियों और सभ्यताओं पर सदा से ही आक्रामकों की डीठ लगी रहती है। साम्राज्य लोभियों की खास तौर पे। यही हाल ज्यार्जिया का हुआ।

सातवीं शताब्दी से अठारवीं शताब्दी (सन् 627 से 1795) तक त्बिलिसी ने लगभग 40 आक्रमण झेले। ज्यार्जिया के लोग बार-बार पराजित हुए, लेकिन हर बार अंततः उन्होंने आक्रामकों को उखाड़ फेंका। हकीकत तो ये भी है कि ईसा पूर्व 65वीं सदी में पाम्पेई ने ज्यार्जिया पर आक्रमण कर न केवल उसे, बल्कि आर्मेनिया को भी कब्जे में कर लिया था। मत्स्खेता में कूरा नदी के दाएं किनारे पर पाम्पेई की सेनाएं थीं, बाईं ओर ज्यार्जिया की। बीच में एक पुल था जिसे रोमनों ने उड़ा दिया और समूचे इलाके पर काबिज़ हो गए।

लेकिन, इस इलाके ने अपने सबसे बुरे दिन देखे, सातवीं शताब्दी में, अरब खलीफाओं के विशाल साम्राज्य का छोटा अंग होने के दिनों (यह याद रखने की बात है कि—सन् 347 में ही इसाई धर्म राज्य द्वारा स्वीकार कर लिया था) इनका राज 400 बरस रहा। सन् 1121 में जार डेविड चतुर्थ के नेतृत्व में ज्यार्जिया की जनता ने खलीफाओं को परास्त किया। इन्हें जनता ने 'निर्माता डेविड' की उपाधि दी। इन्होंने छोटी-छोटी जागीरों को मिलाकर उन्हें एक सूत्र में जोड़ा। फिर आया 'महारानी तमारा' का काल। वे अपने जमाने की 'सर्वाधिक आतिथ्य प्रेमी और उदार' शासक मानी जाती थीं। मजबूत और चतुर भी। महारानी तमारा और उनके बेटे के शासनकाल में त्बिलिसी ने सैकड़ों बरसों बाद शांति और समृद्धि के दिन देखे। उन दिनों वहां पहुंचे यात्री 'मारकोपोलो' ने लिखा—"एक खूबसूरत नगर है—त्बिलिसी नाम का, असंख्य बस्तियों और सुरक्षित ठिकानों से भरा।"

ज्यार्जिया की समृद्धि की ख्याति फिर फैली। अब की चंगेजखान और तैमूरलंग की विशाल सेनाओं ने उस पर हमला किया, उसे लूटा-बरबाद किया और अपने पिट्ठू बिठाकर चलते बने।

इस बीच समूचे एशिया माइनर और बाल्कन क्षेत्र पर राज्य कर रहे तुर्कों ने व्यापार के लिए नए मार्ग खोज लिए, कम दूरी के। कूरा से गुजरने वाले मार्ग का महत्व घट गया। ज्यार्जिया फिर छोटी-छोटी खुदमुख्तार जागीरों में बंट गया।

भाइयों में तकरार हो उनमें काटानासी चल रही हो तो किसी को भी अपने पंजे गड़ाने की हौंस उठ सकती है; सो उठी और फारस (ईरान) के सम्राट अब्बास ने सत्रहवीं शताब्दी में ज्यार्जिया पर आक्रमण कर दिया। उसका बस चलता तो वह यहां के मूलनिवासियों के साथ वही सलूक करता जो यूरोप से अमेरिका पहुंचे गोरों ने वहां के मूलनिवासी-रेड इंडियनों—के साथ किया। सफल न हुए तो केवल इसीलिए कि ज्यार्जिया वासियों को युद्ध का लम्बा अनुभव था और वे सभ्यता, संस्कृति के मामले में आक्रामक ईरानियों से बहुत पिछड़े न थे। फिर भी उनका राज चला 1744 तक जब ज्यार्जिया के राजा तैमूरेज़ और उनके बेटे ने उन्हें मार भगाया। 'त्बिलिसी' फिर राजधानी बनी।

दिल्ली भी तो जाने कितनी बार उजड़ी, बसी—इन्द्रप्रस्थ से नई दिल्ली पहुंचने के बीच।

सैकड़ों बरसों की इस लगातार जंग और तबाही से परेशान ज्यार्जिया के शासकों ने उन दिनों पड़ोस में विकसित हो रहे शक्तिशाली रूसी राज्य की ओर नज़रें घुमाईं। 1783 में रूस और पूर्वी ज्यार्जिया के बीच सुरक्षा संधि हुई। यूं 1801 में वह रूसी साम्राज्य का हिस्सा हो गया। शेष ज्यार्जिया भी धीरे-धीरे रूसी साम्राज्य के 'तिफ़लिस' प्रान्त का हिस्सा बन गया।

उन्नीसवीं सदी में यह सड़क बनी—ज्यार्जियाई सैनिक मार्ग—'जिस पर तेजी से बढ़ते हम 'मत्स्खेता' की ओर बढ़ रहे हैं।'

मत्स्ख़ेता

प्रसिद्ध है कि ज्यार्जिया के सर्वाधिक पुरातन नगरों में गिने जाने वाले इस नगर 'मत्स्खेता' को, जहां हम आकर रुके हैं – ज्यार्जिया के आदिवासी पुरखों में से एक 'कारत्लोस' और उनके बेटे 'मत्स्खेतोस' ने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में बसाया था। आज कौन कह सकता है कि खंडहरों से भरा यह नगर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की पांचवीं शताब्दी तक लगभग आठ सौ बरस ईबेरिया, पूर्वी जार्जिया के सम्राटों की राजधानी रहा। जिस होटल में हम ठहरे हैं उसका नाम भी 'इबेरिया' ही है।

ईसा पूर्व 65वीं सदी में पाम्पेई के सम्राटों ने इस राज्य पर पहला विदेशी आक्रमण किया था और पास ही बहती कूरा नदी के दाईं तरफ पोम्पेई की और बाईं ओर ज्यार्जियाई सेनाएं थीं। इन दिनों के बीच एक पुल था जिसे उड़ाकर रोमनों ने यह इलाका फतह किया।

उन दिनों नगर विशाल परकोटों से घिरे रहते थे। उसके अवशेष अब भी दिखाई देते हैं। लाल पत्थरों का बना हाथीडूब परकोटा और उसे घेरे चौड़ी खाई।

सन् 337 में देवदूत ईसा का पंथ स्वीकार करने के बाद तत्कालीन ज़ार ने यहां उगे

एक विराट वृक्ष की लकड़ी से गिरजाघर बनवाने का इरादा किया। उसकी शाखाएं काटी गईं, फुनगियां भी, लेकिन काटने वालों से वृक्ष का तना न कट सका। कोशिश करते-करते जब वे हार रहे थे तभी किसी ने ज़ार को सुझाया कि 'कपादोकिया' में रहने वाली 'संतनीना' को बुलाकर तना कटवाने की कोशिश की जाय। वे ससम्मान बुलाई गईं, आईं और उनने अपनी उंगलियों से वृक्ष का वह लोह तना काट दिया।

उसी वृक्ष की लकड़ी से चर्च बना (जो अब पत्थर का है) लेकिन वह 'पवित्र वृक्ष' अब भी है—उसका ठूंठ। उसके आसपास पत्थर की चौखूंटी नाद है।

वोलोद्या ने बताया यह चर्च अब भी सक्रिय है—याने यहां अब भी सामूहिक प्रार्थनाएं होती हैं। इसे 'दूसरा यरुशलम' भी कहते हैं क्योंकि ईसा के देहावसान के बाद उनके अनुयाइयों में से एक यहां आया और उसके नेतृत्व में ही यहां चर्च बना—जो ठीक यरुशलम के ईसा द्वारा निर्मित चर्च की प्रतिकृति था। उस ऐतिहासिक चर्च के अवशेष अब भी तल में बिखरे पड़े हैं। फर्श में जगह-जगह कांच की खिड़की से नीचे उस चर्च के अवशेष दिखाई देते हैं, बिजली के बल्बों से रोशन। लेकिन ये अवशेष उस लड़की वाले गिरजाघर के नहीं, ग्यारवीं सदी में बने पत्थर के गिरजे के हैं। पत्थरों से बना वह पहला गिरजा था ज्यार्जिया में।

परकोटे का सिंहद्वार पार कर विस्तृत इलाके में घुसते ही खामोश चहल-पहल नज़र आती है। चर्च दिखाई देता है। चर्च में प्रवेश करते ही नज़र आती है जलती मोमबत्तियां और कानों में गूंजते हैं प्रार्थनाओं के सामूहिक स्वर। उनकी गूंज में शोर नहीं है, एक अपनी तरह की शांतिदायी लयकारी है जो मन को अपने में रमाती है। श्रोताओं को बांधती है एक सूत्र में।

वह पुरातन वृक्ष सामने ही दीखा। कटे तने के पास की दीवार पर पंखोंवाली संत नीना की आकृति है। इकॉन। आगे बढ़ा तो एक कब्र नज़र आई। पता चला यह कब्र ज़ार इरकाली द्वितीय की है। इसी ने रूस से शांति सन्धि की थी। वह अपने शौर्य और दूरदर्शिता के लिए, कला प्रेम के लिए समूचे यूरुप में जाना-माना जाता था। बताते हैं मुझे श्रीमान वोलोद्या प्रथम कि वह यूरुप की कई भाषाओं की कविताओं का नायक रहा है।

कहते हैं कि इसी गिरजे में यीशु की पोशाक का जोड़ा गड़ा है, उस स्तम्भ के नीचे जिसे 'जीवनदायी स्तंभ' कहते हैं।

मेरे पास भारतीय अगरबत्तियां थीं। मुझसे रहा न गया। धीरे-धीरे बढ़के-पीतल के अपने कंधे तक आते एक दीपदान में मैंने भी चंदन की अगरबत्तियों का एक गुच्छा जला—फूंक से बुझा, लगा दिया। पूरा गिरजा अगरु-चंदन की भीनी खुशबू से महक उठा। लोग उस झोंके की ओर आकृष्ट हुए—समझ गए अधिकतर कि कोई भारतीय है। तो क्या वे मुझे भी इसाई समझ रहे होंगे। ठीक भी है एक भारतीय के अलावा क्या किसी और का सिर वातावरण की शुचिता के प्रति, पुरखों की स्मृति के प्रति, श्रद्धालु होकर इस तरह किसी अन्य के पूजा स्थल में सिर झुका सकता है। शायद नहीं।

काले कपड़े पहने कई बुजुर्ग महिलाएं उन दीपपात्रों में मोमबत्तियां जला रही हैं।

सामने अनुष्ठान चल रहे हैं। सनातन धर्म में ही विधिवत अनुष्ठान होते हैं यही समझता था मैं, लेकिन यहां भी—पादरियों का समूह पहले भीतर मंत्रपाठ करता रहा—फिर सुनहले द्वार से बाहर आया, मंत्र, नहीं बाइबिल के सूक्तों का पाठ करता हुआ, लगभग वैसे ही स्वरों में जैसे हमारे यहां वेद पाठ होता है। ज्यार्जियाई भाषा में पढ़े जाते भजन, उंगलियों से छुआ

जाता पवित्र जल, आंखों से लगाई जाती गीली उंगलियां। वैसा ही मंत्रविद्ध करने वाला सब कुछ जैसा भारत में।

चर्च से बाहर निकल, मैं उसके स्थापत्य को देखने लगा। अज्ञेय जी होते तो बारीकियां जान सकते थे—जता सकते थे। मैं तो बस देख सकता हूं कि क्या है—

चर्च के मुख्य द्वार पर पत्थरों की बेल कढ़ी है—अंगूरों की बेल। बाद में देखा कि पूरे गिरजे के कंगूरे और दीवारों पे ये बेल छाई है, छाए हैं अंगूरों के गुच्छे। ठीक ही तो है—अंगूर ज्याजिया का प्रतीक है। ज्याजियावासी भी अंगूर की अपनी वाइन पे वैसा ही गर्व करते हैं जैसे फ्रांसीसी।

दाईं ओर मुड़ते ही—गिरजे की जो दीवार नज़र आती है—खरी धूप में प्रकाशित, उसमें एक आयताकार चौकोर के भीतर सिंह है। चौकोर के बाजू से अंगूर की बेल और ऊपर अंगूर का क्रास सेक्सन। यह प्रतीक है अनन्त ईसाइयत का। उसके नीचे तीन फर्शियां हैं। लगभग एक बाई एक की। एक पे खुदी है घोड़े पर सवार संत ग्यार्गी की आकृति। बीच की फर्शी पर वही अंगूर की बेल और तीसरे पे दो चिड़ियां (उसमें कुछ और भी था याद नहीं आ रहा) वोलोद्या ने समझाया यह प्रतीक है ग्रीक और ज्याजियाई आर्थोडाक्स (परम्परावादी) चर्च के बीच एके का भाईचारे का।

बातों-बातों में यहीं पता चला कि इस जीवनदायी (ज्याजियन में—'श्वेती श्खोवेली' केथेड्रल (1010-1029) को बनाने वाले महान कारीगरों के भी हाथ उसी तरह काट डाले गए थे जैसे ताज बनाने वालों के। चर्च की उत्तरी दीवार पे दाईं हथेली का निशान और चौकोर चिह्न बना है, वहीं लिखा है—"ईश्वर के गुलाम-अर्सुकिज़े का हाथ, ईश्वर उसे क्षमा करें।" लेकिन ऐसा कभी हुआ है! मजदूरों-कारीगरों के लिए दंडविधान के अलावा कोई और विधान आज तक लागू हुआ है—नहीं। हुआ ये कि अर्सुकिज़े की निर्मिति देखने के बाद उसे जार के एक तत्कालीन मंत्री ने, जिसने अर्सुकिज़े को यह काम दिलाया था, अपने दरबार में बुलाया। उसके उपस्थित होते ही मंत्री महोदय ने महसूस किया कि गुरू तो गुरू ही रह गया और चेला शक्कर हो गया। दरबारी मुसाहिबों-कारिन्दों-मंत्रियों को भला कैसे हो यह बर्दाश्त? नतीजतन वही हुआ, जो होना था, होता आया था। 'श्वेती श्खोवेली' चर्च के निर्माता को दंड सुनाया गया गुस्ताखी का। उसका वह दायां हाथ काट दिया गया जिससे उसने ईंटें चुनी थीं—अंगूर की बेलें और अंगूर, चिड़ियां और शेर, चांद और सूरज और आदमी बनाए थे—गउएं बनाई थीं।

गनीमत है कि लोगों ने अपनी सामूहिक कायरता से उबर कर मांग की कि काटने से पहले किसी दीवार पर कारीगर को अपनी दायीं हथेली बनाने दी जाय और लिखने दिया जाय उसे—नाम उसका जिसकी वो थी। वह हथेली अजर-अमर है। अपनी अद्वितीयता कायम रखने के लिए सामंतवादी प्रवृत्तियों ने सदा यही किया है—चाहे वह मत्स्खेता हो, चाहे आगरा, चाहे मुर्शिदाबाद। खोजने पर ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल जाएंगे।

गिरजाघर देख के हम उसी परकोटे में लगी एक दुकान में घुसे जहां स्मृतिचिह्न मिलते हैं। मैंने दो स्मृतिचिह्न खरीदे। ज्याजियाई कारीगरी का नमूना। नक्काशीदार म्यान। बोलोद्या ने इस बीच लकड़ी-पत्तों, कपड़ों की बनी एक टोपी सर पर रखी। अजब बनक। मैं खिंचा उस ओर तो बताता है क्या वो—कि ज्याजिया के लोग इस टोपी को धूप से बचने के

लिए तो काम में लाते ही हैं—जरूरत पड़े तो पानी भरने और पानी पीने के काम भी लाते हैं।

महंगी बहुत थीं।

वहीं मैंने चमड़े की चित्रों भरी जिल्दवाली कविता पुस्तक देखी। यह वही महाकाव्य था, ज्यार्जियाई भाषा का पहला महाकाव्य जिनका एक नायक भारतीय है। हमारे यहां कब छपेंगी ऐसी पुस्तकें। कब हममें इतना गर्व पैदा होगा अपने कवियों के लिए, इतना स्नेह !

प्यास लग रही थी। एक नल दिखा, पहला नल, हमारे यहां जैसा, दौड़कर पानी पिया।

बाहर निकल रहे थे कि याद आया—जिस द्वार से गए—और अब बाहर आ रहे हैं—जो सदियों से लोगों को आता-जाता देख रहा है—उसकी शक्ल भी तो देखें—कैसा है ?

सिंह द्वार के बाजू-बाजू की दीवारों पर जो देखा उसकी कल्पना भी कठिन थी। जानते हैं वहां दोनों ओर गौमुख—गौशीष बने थे—खुदे थे—उकेरे गए थे पत्थर पर। ईसाइयत के आगमन से पहले गौ यहां भी पूज्य थी, समृद्धि का प्रतीक थी।

लौटते समय वोलोद्या ने मुझसे सवाल किया था—आप लोग गाय को पूज्य मानते हैं—क्यों ? और मुझे एक खेतिहार देश में—शाकाहारी भोजन करने वालों के जीवन में—औद्योगीकरण और बीसवीं सदी की कगार तक आ पहुंचने के बावजूद भारतीय के लिए—प्रकारांतर से शायद उनके भी लिए—गाय का आर्थिक सामाजिक महत्व सिद्ध करना पड़ा था।

लौटते वक्त चौक के बाईं ओर दूर एक पहाड़ी दिख रही थी। उस पहाड़ी पर नजर आ रही थी एक कुटिया। मुझे उस ओर देखते देख वोलोद्या ने बताया—यहीं वो बाल-संत रहता था जिसपे लर्मेन्तोफ़ ने कविता लिखी थी। यह उसी का घर है—मठ।

दाईं ओर नजर गई तो दिखा कांसे का एक स्तम्भ, जिसमें उकेरे हुए थे चित्र। लोक कथाएं कहते पशु, पक्षी, मनुष्य, वनस्पति, मिट्टी, सूर्य-चन्द्रमा। आजकल तो मनुष्य भर होता है—वह भी समूचा नहीं—उसकी एक अकेली समूचे संसार से कटी भंगिमा या मूड, वह भी अपने मन का। याने गोपनीय मन की गोपनीय प्रवृत्ति का अक्स। उन पिछड़े जमानों जैसे, सामूहिक मन की सामूहिक आकांक्षाओं के अक्स नहीं। वे गए-गुजरे लोगों की बातें हैं, ये आज के बीसवीं सदी तक आए चतुर सुजानों की।

हम लौटे त्बिलिसी की ओर। इस नगर की ओर जिसे पांचवी शताब्दी के उत्तरार्ध में ज्यार्जिया की राजधानी होने का गौरव पहली बार मिला था।

राह भर हरियाली। एक ओर अधिकतर पहाड़। दूसरी ओर लकड़ी के घर। घरों पर छाई अंगूर की बेलें। अंजीर, फर, लीपा। वोलोद्या बताते हैं कि हमारे यहां लगातार फल मिलते हैं, क्योंकि लगभग पूरे साल सूरज चमकता है। बर्फ एक-दो बार ही गिरती है। औसत तापमान 13 डिग्री से० के आसपास रहता है ज्यार्जिया का कुछ हिस्सा काले सागर से सटा है। उसी में हैं वह 'आर्तेक' नगर जहां विश्वविद्यालय 'पायोनियर केम्प' लगता है। सोवियत लेंड पुरस्कार जीतने वाले चित्रकार बच्चे हर वर्ष वहां एक माह गुजारते हैं। ज्यार्जिया में कई जगह पहाड़ों पर कहरुआ नामक मूल्यवान पत्थर पाया जाता है। उससे गहने-गुड़िया बनते हैं।

बढ़ते हुए ध्यान गया बस स्टापों की दीवारों पर। ज्यार्जियाई लोक कथाओं के रंगारंग आदमकद चित्र। घरों की दीवारों पर रंगबिरंगे पत्थरों से बने हिरण, घोड़े, भेड़ें। चरोखरों में

हल्के, गेरुए रंग की स्वस्थ गाएं दिखीं और एक घर के बाजू से गुजरता हुआ थूथन कीचड़ से साने सुअर भी नजर आया। कोई हमारे ही यहां के सुअर नहीं होते कीचड़ प्रेमी।

अचानक बाईं ओर की पहाड़ी पर नजर गई। गुफाएं बनीं थीं। पता चला 16वीं सदी में तुर्की आक्रमण के समय लोग इनमें बस गए थे।

दूर दो पहाड़ों के बीच औद्योगिक हलचल नजर आई। वोलोद्या ने बताया—वह ज़िपलोस्काया नाम का स्थान है। हम वहां पहुंच ही रहे थे।

गाड़ी रुकी। दो और पहाड़ हैं सफेद पत्थरों वाले। प्रकृति की मार से मटमैले। उनके बीच बह रही है कूरा नदी। निलछर हरी आभा वाला पानी। इसे पचासेक मीटर ऊंचे बांध से बाँधा जा रहा है। पूरा हो जाने पर यह भी त्बिलिसी को पानी और पनबिजली देगा।

मनमोहक राह से मुद्रित हम एक दूसरी नदी—अरावि के बाजू से गुजर रहे थे। वे ले जा रहे थे मुझे 'अनउरी गढ़ी' दिखाने। ऊंचे परकोटे से घिरी वह गढ़ी 15वीं शताब्दी के आस-पास से अरावि नदी के किनारे खड़ी थी। दाएं हाथ पर सड़क के। गाड़ी रुकी तो सामने लाल रंग की एक और कार नज़र आई। पता चला जर्मन जनवादी गणराज्य का नम्बर है कार पर। वे ज्यार्जिया की सैर करने आए हैं। दम्पति।

गढ़ी में ही गिरिजा भी था या कहो गिरजे की रक्षा के लिए ही पत्थरों की यह गढ़ी बनाई थी। वोलोद्या ने बताया पुराने जमानों में यही परम्परा थी। चर्च किलों के भीतर ही बनाए जाते थे। नए धर्म की रक्षा के लिए ही यह प्रथा शुरू हुई होगी।

गढ़ी के द्वार से प्रवेश करते ही ऊंचे गुम्बद वाले गिरजे की लकड़ी का बना विशाल दरवाजा नजर आता है। उस पर तांबे का पत्तर चढ़ा है। दीवार पर—दरवाजे के बाजू से ही दाईं ओर खुदे हुए हैं अक्षर। वोलोद्या ने बताया यह प्राचीन ज्यार्जियाई लिपि का सबसे पहला याने सबसे पुरातन प्रमाण है। मैंने उसे फिर धन्यवाद दिया, यहां लाने की सूझ पर। लिपि 33 अक्षरों वाली है। वोलोद्या बांच नहीं पाता। 15वीं शताब्दी की जो है। यह 1689 में पढ़ी गई।

विशाल द्वार से घुसो तो दो विशाल स्तम्भों पर टिका गुम्बद नज़र आता है। सौ एक फुट तो होगा ऊंचाई में। या शायद ज्यादा। गोलाई भी कम न होगी। उसी मान से अन्दर ठंडक भी है। बाहर के 30 डिग्री से तुलना में शिमला।

गिरजे के सिरे पर लकड़ी के तख्तों का बना एक परदा-सा था। वह विभाजित करता था। गिरजे के भीतरी और बाहरी हिस्से को। भीतर पुजारियों की जगह। तख्ते पर अर्ध-वृत्ताकार तराश थी। अर्धवृत्तों के ऊपर लकड़ी के ही गोलाकार टुकड़े तराशे हुए सादगी और सुन्दरता का समन्वय। उस परदे के बीच वाले द्वार के सामने एक चबूतरा था। आयताकार। पत्थर का। चबूतरे पर गेरुए रंग का कढ़ा हुआ रूमाल पड़ा था। चबूतरे के बाजू में मोमबत्तियां लगाने का स्टैंड खड़ा था। उसमें दो मोमबत्तियां जल रही थीं।

चबूतरे के पीछे, लकड़ी के उस डिवाइडर के भीतर दीवार में एक आला था। दाएं-बाएं गिरजे के ऊपरी हिस्सों में जाने के लिए सीढ़ियां। पत्थर की। ये सीढ़ियां अब बन्द हैं। वहां दो लोग और थे। निश्छल मुस्कुराहट से उनने मेरा स्वागत किया। बातें करने पर—शब्दों, शब्दों-मसलन...

'रुस्की ?'

'दा, रुस्की तुर्क'

'नाज़िम हिकमत'

'दा।'

'अपने प्रिय कवि का नाम सुनकर वे मगन हो गए। उनने जोरों से हाथ मिलाया—'इंदस्की ?'

'दा'

'टागोरा' कहते हुए उनने प्रशंसा में बन्द मुट्ठी ऊपर उठाई।

सलाम !

सलाम !

हां, तो उस आले में एक काला पत्थर रखा था। जैसा हमारे मंदिरों के आले में होता है। जाने कब से है ये उस आले में। क्या चर्च बनने के ? जवाब किसी के पास न था।

चर्च से निकले तो दाईं ओर सीढ़ियां दिखीं। गुफा जैसी गहराई में उतरतीं। उनके सहारे उतरा। वह गुफा क्या अच्छा खासा कमरा था—आदमकद। भीतर पतली ईंटों से पटा। ईंटें पत्थरों में चुनी हुई। नदी की ओर खुलती है एक खिड़की। कमरे के अन्दर बनी खिड़की वास्तव में द्वार है, एक और बड़े पहले वाले से भी बड़े कमरे में जाने के लिए अंधेरा है। दोनों कमरों में। फर्श चट्टानों की ही है। दोनों की दीवारों में आलमारियों जैसे खांचे हैं। इनमें पादरी लोग सामान रखते होंगे।

चर्च की पिछली दीवार पर फिर नज़र आई, तराशी हुई अंगूर की लताएं—अंगूरों से लदीं। गढ़ी की दीवार देख मुझे असीरगढ़ याद आया।

थोड़ा नीचे उतरा, नदी की ओर, तो वहीं पहाड़ के पठार पर नज़र आई। भूरी चितकबरी गाएं। सींगों वाली। भीतर को मुड़े गोल-गोल सींग। नज़र आए पीले जंगली फूल, जैसे हमारे यहां घास में होते हैं। फिर भान हुआ, माटी की विविधता के बावजूद सारी दुनिया में, बहुतेक चीजें एक हैं, मसलन घास और घास में उगे फूल। चाहे वे यूगोस्लाविया में हों, रोम में, हालैंड में या रूस में। एक फूल तोड़कर मैंने डायरी में दबा लिया। अब भी है उसमें वह। इस प्रतीति को पुख्ता करता।

सिगरेट खत्म हो रही थी। जताने पर गाड़ी रोकी गई, एक बस स्टाफ पर, इगोर बढ़ा गुमटी की ओर। पैर सीधे करते मेरा ध्यान फिर बस स्टाप की दीवार पर गया। वह दीवार मोज़ेक-चित्रों से ढंकी थी। संत थे। सींगों वाली गाएं और बछड़े। भेड़ें। पता चला आसपास के रहवासी खुद ये सजावट कर लेते हैं।

आगे बढ़े तो राह में एक ज्याजियाई बुजुर्ग दिखे। काली पतलून और नीली बनियान, सिर पर नीली गोल ज्याजियाई टोपी। गधे लेकर जा रहे थे। एक की रास थामे थे और दूसरे को उसके पीछे-पीछे लगा रखा था।

आगे एक चरवाहा मिला। जंगल में अपनी गायें चराता।

घर दिखे। गोल सफेद पत्थरों से सजी दीवारों वाले। पता चला कूरा नदी से इतना गोल पत्थर निकलता है कि घरों की सजावट में उसका प्रयोग बहुत आम हो गया है। लोगों ने तो अपने घरों की चहार दीवारियां तक इनसे संवार रखी हैं।

इसी बीच बात आई कहरुआ की। उसे ये शहद पत्थर कहते हैं। परीलोक की कथा

जैसा लगा सुनते हुए—कि बाल्टिक समुद्र में शहद टपकता है। कैसे ? अरे उसकी तूफानी लहरें वृक्षों तक पहुंच जाती हैं और शहद भला कौन छोड़े। समुद्र के खारे पानी में पड़ी शहद की वे बूंदें पत्थर बन जातीं हैं—हां, तभी, उन पत्थरों का रंग निर्मल शहद की तरह होता है।

शाम, शहर के बीचोंबीच बने सेन्ट निकोलस टेम्पल में बीती। यह पुराना छोटा-सा चर्च, जिसमें लगभग दो सौ व्यक्ति एक साथ बैठ सकते हैं, आजकल नृत्य और गान की ज्यार्जियाई लोकमंडली का रंग स्थल है। लोक कलाकारों की दुनिया सहज स्फूर्त होती है। प्रदर्शन के लिए उन्हें कोई बहुत बड़ा मंच मिले, प्रकाश और ध्वनि की अधुनातन व्यवस्थाएं हों यह जरूरी नहीं। उनमें अपनी प्रकृति और जनजीवन का आवेग, उल्लास और करुणा समाई रहती है, अपने निर्मलतम रूप में। इसीलिए लोक-नृत्यों, लोक-गीतों में सदा ही प्रेम और संघर्ष की ध्वनि सुनाई देती है। वे नागर नृत्यों की बारीक थिरकनों के बरवस अपने उद्दाम आवेग, तीव्र गति और नैसर्गिक स्वर संयोजन से हमें मोहते हैं। गति देते हैं। उछाह से भर देते हैं हमें।

उस नीम अंधेरे मंदिर में जिसका अर्धचक्र लगभग तीसेक फुट होगा, मंच से लगभग पांच फुट दूर, लकड़ी की एक बेंच पर बैठा मैं, महसूस रहा था कि दाएं बाजू लगे काले पर्दे के पीछे चहल-पहल है। मुझे बचपन के रामलीला वाले अपने दिन याद आ गए। जाहिर है वहां कलाकार थे, शायद वहां ग्रीनरूम हो। अचानक एक कलाकार काले कपड़े पहने पर्दा सरकाते हुए निकला और तीर की तेजी से उस दरवाजे से निकल गया—बाहर—जहां से हम दाखिल हुए थे। कलाकार के निकलने से पैदा हुई परदे की बड़ी संध से छिन-भर को क्लासिक दृश्य दिखा, सजे-धजे तैयार—दो कलाकार—सिगरेटें फूंक रहे थे। धुआंधार। लगा कि कार्यक्रम शुरू होने में अब ज्यादा देर नहीं है वरना वे आराम से कश ले रहे होते।

तभी उसी द्वार से, जिससे हम आए थे, रोजमर्रा की वेशभूषा में वादक आते दिखाई दिए। ट्रम्पेट वगैरह के अलावा मेरा ध्यान खींचा नगड़िया जैसे तालवाद्य ने। नगाड़ा भी था और बांसुरी भी। कुल पन्द्रह थे। अपनी नियत जगह पर संधर-संधर वे खड़े हो गए। कुछ बैठे।

इसी बीच मझोले कद की एक तन्वंगी युवती मंदिर के हमारे कोने की ओर बढ़ी। सीटें भर चुकीं थीं। हमारी वेन्च तीन सीटों वाली थी। चाहते तो बैठा लेते। लेकिन उसके हाव-भाव से विशिष्टता प्रकट हो रही थी। जाहिर था कि वह नर्तकी है। शायद महत्वपूर्ण भी। वह अकबकाई इधर-उधर ताक रही थी कि बाजू के उसी काले परदे के पीछे से, एक कुरसी झांकी—फिर प्रकट हुआ उसे उठाने वाला कलाकार। कुर्सी हमारी बेंच के बाजू में खाली जगह पे रख दी गई। 'स्पासिवा' (धन्यवाद) कहते वह बैठ गई।

प्रदर्शन मानो उसी के लिए रुका था।

मंच पे रोशनी हुई और उसके दाएं पाख (विंग) से थिरकते निकले काले चूड़ीदार जैसे पजामे और काले कुरते पहने गोरे छरहरे लम्बे युवक। पूरे मंच को एक सांस में थिरकन से भरते वे अपनी नियत जगह पहुंचे ही थे कि उसी छिन, नीले चूड़ीदार पजामे—नीले कुरते, कलगीदार टोपियां पहने लम्बी छरहरी लड़कियाँ (चार) थिरकती आईं। आंख झपकती कि दोनों ओर से फिर इतने ही लड़के और लड़कियां एक साथ। लड़कियां हरे वस्त्रों में। लड़के

सफेद में। सब के सब लय, ताल, छन्द की चपलता में बंधे।

लड़कियां—हां ये ज्यार्जिया की लोक रूपसियां थीं। मानो किसी ने इन्हें इन्चीटेप से नाप-जोख कर चुना हो, ऐसा एक जैसा कद, एक काठी। बड़ी-बड़ी, काली, भूरी, नीली आंखें। पतली भौंहें, पतले ओंठ। तिकोने चेहरे। चौड़े माथे। काली केशराशि। कटि, मुट्ठी-भर। सब कुछ सांचे ढला।

आठ युवतियों और आठ युवकों के दल ने उस छोटे से मंच को, दर्शकों को, अपनी थिरकन से, नृत्य के उल्लास से, प्रेम के आवेग से सराबोर कर दिया।

नाच बदलने पर हर एन्ट्रेंस में—लड़कियां ऐसे उतरतीं जैसे पानी पर तैरतीं थिरकतीं आ रही हों।

तूफानी गति।

पांव के अंगूठों, एड़ियों और कटि की लोचदार मुद्राएं।

आंखों की चपल मुस्कानें।

भौंहों की मुखर भंगिमाएं।

अधरों की कूट·········

अचानक बांसुरी से चिड़ियां चहचहाईं। गुम्बद में गूंज उठी उनकी आवाजें। जाने कितनी चिड़ियों की चहचहाटों के बीच उड़ीं मेरे सामने तितलियों सी लड़कियां—तेज हवा के झोकों में नाचे—पौधों से, फूलों से युवक···

हर नाच, नगाढ़े या नगड़िया की आवाज़ से शुरू होता—लगता कि अभी नौटंकी या राई शुरू होगी।

मन्त्रमुग्ध करने वाले इस अलौकिक वातावरण को सहज पार्थिव बनाए रख रहे थे वे कलाकार जो अपना प्रदर्शन खत्म होते ही काले परदे के आजू-बाजू से झांकने लगते, दूसरों का प्रदर्शन देखने। थोड़ी देर में तो अड़ोसी-पड़ोसी-मय बाल बच्चों के उस परदे के आजू-बाजू आ खड़े हुए। परदा सिकुड़ता-सिकुड़ता बीच में आ गया।

मुझे फिर गोकुलपुर की रामलीला याद आई। 'भारत-दुर्दशा' नाटक की शुरूआत से पहले दिखाई जाने वाले कृष्ण की झांकी के कृष्ण से तरक्की करते मैंने उसमें, वानर, धनुष यज्ञ के साधूराजा और भरत की भूमिकाएं कीं। बाद में अपने कालेज के नाटकों में अभिनय और निर्देशन किया। 'परदा उठाओ, परदा गिराओ', 'सराय से बाहर' (अश्क जी आए थे) बाबू (मलयालम), डा॰ कैलाश (मराठी) 'और भगवान देखता रहा' (मराठी) आदि नाटकों में अभिनय, निर्देशन करते कभी वह प्रवृत्ति, परदे की संध से या बाजू से मंच पर घटते दृश्य को झांकने भी न गई। वही यहां हो रहा था।

संस्कृति का जानकार कोई दिल्ली वासी यहां होता तो इन लोक कलाकारों को ऐसी फूहढ़-गँवारू हरकतें करने के लिए वहीं डांट पिलाता। लेकिन यह तो त्बिलिसी हैं, त्बिलिसी की राष्ट्रीय लोकमंडली। यहां उस बद्तमीजी की कोई गुंजाइश नहीं।

सहजता ही यहां बरस रही है—रस बनकर।

लेखक ने सोवियत लेंड नेहरू पुर० प्राप्त होने पर सोवियत संघ की यात्रा की थी। उसी यात्रा के वृतान्त का यह एक अंश है।

उपन्यास अंश

पिता की शादी

◻ ध्रुव शुक्ल

ये आकाशवाणी है; अब आप समाचार सुनिए…

अचानक एक टैक्सी घर के सामने आकर रुकी। ड्राईवर ने घबराए स्वर में पूछा—पंडित जी कहां हैं।

वे रोज शाम को खाना खाने अटारी पर चले जाते थे और प्रादेशिक समाचार सुनकर नीचे उतरते थे। मैं शाम को उनके दफ्तर की रखवाली करता और वहीं बैठकर पढ़ता। वे शहर के जाने माने ज्योतिषी थे।

बब्बा खाना खाने गए हैं ––मैंने कहा।

जाओ उन्हें बताओ, बहू को आग लग गई है, अस्पताल में भरती है—ड्राईवर इतना कहकर तुरन्त चला गया।

मैं जैसे ही आंगन में पहुंचा बब्बा नीचे ही आ रहे थे। मैंने ड्राईवर की कही पूरी बात उन्हें एक सांस में बता दी। सुनते ही वे मुझसे बोले—अभागे। और जोर से दादी को आवाज़ दी—नीचे आओ, विपत्ति आ गई है, बहू जल गई है, चलो अस्पताल। दादी नीचे आई तो दोनों रोने लगे। मैं भी रोने लगा।

हमारा घर सड़क के किनारे पर था। सड़क के किनारे के घर का दुःख अगर कोई बटाने न भी आए तो भीड़ लग जाती है और भीड़ में थोड़ी देर के लिए ही सही कोई न कोई अपना तो बन ही जाता है। किसी के घर के सामने भीड़ लग जाए तो फिर पड़ौसी भी आ जाते हैं, फिर ये ठहरा ज्योतिषी का घर। ज्योतिषी आड़े वक्त में भले ही किसी के काम न आए; भविष्य तो बता ही देता है। किसी को किसी की चिन्ता भले न हो अपने भविष्य की तो होती ही है।

हमारे एक पड़ौसी तांगा ले आए। बब्बा, दादी और मैं अस्पताल के लिए रवाना हुए। सूरज तो पहले ही डूब चुका था। आसमान में गहरा गुलाबी और केशरिया रंग अभी भी फैला था। घर लौटने की जल्दी में पंख फड़फड़ाती चिड़ियां हमारे ऊपर से गुज़र रही थीं। मैं उन्हें वहां तक देखता जाता जहां मैं उन्हें नहीं देख पाता था। बहुत-से काले धब्बे उसी केशरिया और गुलाबी रंग में विलीन होते चले जा रहे थे। बहुत दिनों में यह रंग शाम ढलने के बाद बहुत देर तक फैला रहता। संझा आरती के समय दादी रोज़ कहती—यह अशुभ का संकेत है। संसार पर कोई बड़ा संकट आने वाला है।

हम अस्पताल पहुंच गए। सचमुच संसार पर संकट आ गया था। मां में बसे छोटे से

संसार की देह जल चुकी थी और अन्तिम सांसें गिन रही थी। जो लोग इस देह के मोह से बंधे थे—पिताजी, मामा और कई सगे-संबंधी—उसे घेरे खड़े थे। कुछ देर बाद जब वे जान गए कि यह अब उनकी नहीं रह पाएगी तब उनने घेरा तोड़ दिया और बाकी बचे संसार में आ गए—जहां बूढ़े बब्बा, दादी और मैं था। वे हमें घेर कर खड़े हो गए। मां के पास पिताजी रह गए जो घेरे को तोड़ नहीं पा रहे थे।

तूने आत्महत्या की है—पिता जोर से बोले, इतनी जोर से कि सबने सुना। मैंने पहली बार सुना यह शब्द—आत्महत्या। मां ने पिता का हाथ पकड़ा और एकदम शान्त स्वर में कुछ कहने लगीं जो हम तक नहीं आ पा रहा था। इतने में धीमी-सी आवाज़—मां की आवाज़—मेरा नाम। मां मुझे बुला रहीं हैं। मैं उनके पास गया।

मां के पास मैं बहुत कम रहा हूं। बब्बा और दादी पिता के सगे चाचा-चाची थे उनकी कोई सन्तान नहीं थी। पिता देहात के स्कूल में मास्टर थे। जहां मेरी पढ़ाई-लिखाई ठीक से नहीं हो सकती थी। मैं शहर में बब्बा के पास रहता था उन्हीं के पास पला-बढ़ा। मुझसे छोटी दो बहनें और एक भाई, मां और पिता के पास रहते थे। मैं कभी-कभी मां के पास जाया करता था। वह भी मुझसे मिलने आती थी।

वह कितनी सुन्दर थी। मैं जब उसके पास जाता तो उसी को निहारा करता। अब मेरे सामने उसकी जली हुई शिथिल देह पड़ी है। पिता झुलसी हुई प्रकृति के सामने निहत्थे पुरुष की तरह रोने लगे और मैं डर गया। वह मुझे पुकार रही थी। मैं बिना कुछ कहे उसी बाक़ी बचे संसार की तरफ भागा।

अब वह नहीं आएगा तुम्हारे इस रूप को देखकर डर गया है—पीछे से पिता की आवाज़ आ रही थी, सामने से आ रही थी पुलिस।

मां ने कभी कोई बयान नहीं दिया। समाज के सामने वह लम्बा घूंघट काढ़े रहती। साड़ी इतनी नीची पहनती कि उसके पांव भी नहीं दिखते थे। वह अपने हाथों को भी अक्सर ढांकने की कोशिश करती रहती थी। एक बार हम बरसात के दिनों में एक छोटा-सा नाला पार कर रहे थे। पिता का तबादला पास के एक गांव में हुआ था। गृहस्थी का सारा सामान मरियल बैलों से जुती एक बैलगाड़ी में था जो हमारे पीछे-पीछे आ रही थी। पिता मुझे पीठ पर चढ़ाए सबसे आगे चल रहे थे उनके पीछे मां दो बहनों को संभाले धीमे-धीमे चल रही थीं। पानी गिर रहा था। पिता जल्दी आगे बढ़ गए। मैंने पीछे मुड़कर देखा—मां नाले के ठीक बीचों-बीच अपने को संभालने की कोशिश कर रही हैं। वे गिर सकती हैं। उन्हें कोई सहारा चाहिए। मेरे हाथ छोटे थे और पिता के इतने लम्बे नहीं थे।

पीछे से गाड़ीवान ने कहा—बाई जी आप यहीं खड़ी रहिए मैं गाड़ी आगे निकाल लेता हूं। बैल तो बिना किसी सहारे के उस पार पहुंच जाएंगे फिर आप मेरा हाथ पकड़कर चली चलिए।

मां गाड़ीवान से कुछ नहीं बोली पर गुस्से से इतनी भर गयीं कि जैसे डूब जायेंगी। वे जैसे-तैसे उस पार पहुंचीं। पिता एक घने पेड़ के नीचे खड़े हो गए। उसी पेड़ की एक झुकी हुई डाल पर उन्होंने मुझे बिठा दिया।

पिता बोले—गाड़ीवान का हाथ पकड़कर आ जातीं तो क्या इज्जत चली जाती। डूबते को तिनके का सहारा काफ़ी होता है। गाड़ीवान तिनका है— मुझे हंसी आ गयी।

जो लोग कहावत कहते हैं वे उसके अनुभव से गुज़र चुके होते हैं तभी तो वे उसे कह पाते हैं। मुझे नहीं पता था कि मां का बयान डूबते पिता को तिनके का सहारा है—आज शाम को मैं घर के काम-काज के बाद अपने लिए चाय बना रही थी। मेरी दो फूल जैसी बच्चियां और एक बेटा घर में मेरे साथ थे। मेरे पति खाना खाकर घूमने गए थे। पता नहीं मैं किस मानसिक दशा में थी। मैंने स्टोव में ज़्यादा हवा भर दी और वह फट पड़ा। मुझे आग लग गयी। अब तक मेरे जीवन में सदा सुख रहा है। मेरा पति देवता है। मेरी हाथ जोड़कर विनती है उस पर संदेह न करें।

फिर पिता का बयान। और भी कई रिश्तेदारों के बयान। संदेहों के अंधेरे से घिरी रात बीतती चली जा रही थी। मेरे मन में सिर्फ़ एक दुःख भरी जिज्ञासा थी—मेरी मां क्यों मर रही है? मैं यह जाने बिना ही सो गया। सुबह उठा तो मां मर चुकी थी।

हम सब बाकी बचे संसार में थे। पिता, बहनें, बब्बा, दादी, बुआ, मामा, नाना और कई सगे-संबंधी एक घेरा बनाकर बैठे थे। जैसे हम सब एक परिधि हों, एक स्थिर वृत्त और हमारा केन्द्र कहीं खो गया हो। एक ऐसा झूला जो धुरी टूट जाने से रुक जाता है।

दादी बोली—इन बाल बच्चों का क्या होगा?

बुआ बोली—चार बच्चे हैं चार जनें मिलकर पालेंगे।

यह स्थिर वृत्त ज़रा-सा घूमा और फिर स्थिर हो गया। मौन और भावावेश के बीच सबके संकल्प कहीं खो गए थे। सब बोल रहे थे और चुप थे। सब चुप थे और बोल रहे थे। धुरी नहीं मिल रही थी। परिधि स्थिर थी। इतने में पिता उठकर चले गए और विषय अचानक बदल गया।

बब्बा बोले—ये बहू ऐसी तो नहीं थी कैसे लगाई होगी उसने! उसके सामने उसी के जाये फूल जैसे अबोध बच्चे बैठे रहे और वह लगाती रही उसे बिलकुल पीड़ा नहीं हुई होगी क्या? उसके मन में बच्चों के लिए ज़रा भी मोह नहीं उमड़ा। निर्मोही कहीं की।

बुआ बोली—ज़रा-सा तिलगा छू जाय तो कितना कष्ट होता है। मैं तो कितना ही दुख पाऊं ऐसा कभी नहीं कर सकती।

बब्बा बोले—यह शरीर हमें भगवान ने दिया है। ये किसी की अमानत है। इसे मिटाने का किसी को क्या अधिकार। फिर कोई खुद ही मिटाए इसे, उस मूरख को हम क्या कहें। संसार में सुख-दुख तो लगे ही रहते हैं। उन्हें भोगना पड़ता है। पता नहीं उसके मन में क्या आया। उसने ये सब क्यों किया! अकाल मृत्यु हुई है उसकी! न जाने कब तक भटकती रहेगी नया जन्म पाने के लिए।

मां जितनी प्रेम से भरी थी उतनी ही क्रोध से, घृणा से—अपने आप से घृणा। छोटे-

छोटे कष्टों में वह छाती पीटने लगती और दीवार से सिर मार लेने को बाध्य-सी लगती थी। वह ऐसा कर भी लेती थी। कई बार उसका सिर फूटा। वह खून से लथपथ हुई। जब वह क्रोध से भरी रहती तब उसके पास कोई नहीं जाता। पिता दूर खड़े होकर कहते—तुम्हारा क्रोध एक दिन तुम्हें खा जाएगा। सब दायें-बायें हो जाते। वह ही उसका शमन कर पाती थी और थोड़ी देर बाद अपने किए पर पश्चाताप करने लगती। वह हमेशा कहा करती—हे भगवान मुझे अगले जनम में पुरुष बनाना मैं अब स्त्री नहीं बनना चाहती। पिता कहते—जब प्रेम का रस सड़ने लगता है तो जीवन को घृणा से भर देता है आखिर अपने ही जीवन को नष्ट करने की शक्ति कहां से आती है?

ठंड के दिन थे। हम बड़े सवेरे शमशान पहुंच गए। बब्बा ने कहा—मां की अस्थियां अगर बेटा बीने तो मां को मोक्ष मिलता है। मैंने सोचा—मां स्त्री होकर अपने आपसे घृणा करती थी। क्या वह पुरुष होकर अपने आपसे घृणा नहीं करेगी? हो सकता है वह फिर से स्त्री हो जाने की सोचे। मां की इस इच्छा को हर बार कौन पूरी करेगा!

आग ठंडी हो चुकी थी। मां के आकार की जली हुई अस्थियां राख में छिपी थीं। हम उन्हें बीनने लगे। मैंने हड्डियां बीनते हुए कहा—क्या हम इन्हें फिर से जोड़ सकते हैं? कोई कुछ नहीं बोला। पांवों के नीचे गुनगुनी धरती थी—मां की गोद जैसी गर्म। अब मैं उसमें छिप नहीं सकता था। एक आंच मेरी स्मृति को लगातार पिघला रही थी। गोद की तरह फैली वह राख आंसुओं के प्रवाह को लगातार सोखती रही। हरेक आंसू को जैसे वह गिरा ही न हो।

मैंने पहली बार मां को गोद में उठाया और चलने लगा। पीछे से बब्बा ने आवाज़ दी—बेटा, गिरा मत देना। धीरे-धीरे चलना। मां के फूल हैं। मैंने सोचा—क्या हम जलकर फूल बन जाते हैं!

अस्थियां लेकर कोई घर नहीं लौटता। वहां उनकी कोई प्रतीक्षा भी नहीं करता। हम शमशान से सीधे स्टेशन गये। मां की यात्राओं में अनेकों बार मैं उनके साथ रहा हूं। इसी रेलगाड़ी में बैठकर गया हूं। पर आज सिर्फ़ मां जा रही थी। रेल की खिड़कियों, दरवाज़ों से सिर्फ़ एक ही चेहरा झांक रहा था, हिल रहा था सिर्फ़ एक ही हाथ...

2

ठंड बीत गई। बसन्त की हवा पीली पत्तियां उड़ा रही थी। हम भाई बहन घर के गमलों में रोपे गए पौधों की तरह बढ़ने लगे। पिता के सिर पर फिर से बाल उग आए थे। पिता अभी युवा थे। दोनों बहनें और भाई मां के बिना नहीं रह सकते थे। बब्बा चिन्तित थे कि कोई भले घर की लड़की मिल जाए जो बच्चों को पाल सके और इस गृहस्थी को एक बार फिर संभाल दे।

दादी कहती—कोई-कोई होती हैं जो दूसरों के जाये बच्चे पाल लेती हैं। दूसरी महतारी दूसरी ही होती है। सौतेली मां हमेशा अपने ही बच्चों की भलाई देखती है। भगवान को चौदह साल का बनवास भोगना पड़ा था। ये भगवान को भी नहीं बख्शतीं। दूसरी लाने से तो अच्छा है हम ही इन बच्चों को पाल लें। फिर कहती—हम तो बूढ़े हो गए हैं कब तक हमारा संग-साथ रह पाएगा।

पिता चुप थे और मन ही मन कहीं खोए रहते थे। एक दोपहर को मैंने देखा कि वे फूट-फूट कर रो रहे हैं। मैंने चुपचाप जाकर दादी को बताया। बुआ ने भी सुन लिया—भैया रो रहे हैं—बुआ ने बब्बा को बताया। हम सब पिता को घेरकर खड़े हो गए। दादी उनकी पीठ पर हाथ फेरने लगी। पीठ पर हाथ फेरने की कला सबको नहीं आती। दादी को आती है। मैं जब रोता हूं तो दादी इसी तरह मेरी पीठ पर हाथ फेरती है। इससे गहरी शांति मिलती है। अपना दुख बताने का मौका मिलता है।

पिता बोले—मैं जहां भी जाता हूं वह मेरा पीछा करती है। मेरी देह का बार-बार स्पर्श करती है। मैं जब सो जाता हूं वह मेरे पैर का अंगूठा हिलाकर मुझे जगाती है और मैं चौंककर जाग जाता हूं।—वे शिथिल होकर लेट गए।

शाम को पिता घर पर नहीं थे। दूर के एक रिश्तेदार हमारे घर आए। उनके साथ कुछ और भी लोग थे। उनकी बातों से जल्दी ही पता चल गया कि वे पिता के लिए कोई रिश्ता लेकर आए हैं। दुख की धुन्ध अभी हमारे घर से छंटी नहीं थी। पाणिग्रहण का प्रस्ताव इस धुन्ध से घिरा था। जो लोग रिश्ता लेकर आए थे वे सामाजिक मर्यादाओं को निभाते हुए इस धुन्ध में अपनी खुशी छिपा रहे थे। लड़की की शादी करने की मजबूरी भी छिपा रहे थे। बब्बा और दादी के सामने एक भविष्य था – बच्चों का भविष्य। जिसका निर्णय इसी धुन्ध में होना था। जो होना था सो हो गया। पिता की एक और शादी तय हो गयी। यह उनकी तीसरी शादी थी।

पिता का जन्म कई देवी-देवताओं की कृपा से हुआ था। वे घर के इकलौते लाड़ले बेटे थे। बाद में उनकी दो बहनें भी इस दुनिया में आईं – मेरी बुआ। पिता ही वंश को आगे बढ़ाएंगे। सबकी आंखें उन पर लगी रहती थीं। अठारह वर्ष की उम्र में पिता की पहली शादी हुई थी। उन दिनों पिता के पिता भी जीवित थे। शादी के छह महीने बाद प्लेग का प्रकोप हुआ जिसमें पिता के पिता की मृत्यु हो गई। कुछ दिनों बाद मेरी पहली मां भी मुझे जन्म दिए बिना चल बसीं। मेरा जन्म तो इसी घर में होना था पर मेरे लिए कोई दूसरी मां चुनी गई थी। पिता की एक और शादी हुई तब मेरी मां इस घर में आईं। दादी यह कहानी सुनाते हुए रोते-रोते कहती—मैं जीवन-भर निस्संतान रही पर देखो तो भगवान की लीला मुझे तीन-तीन बच्चे पालने को मिल गए। तुम्हारे पिता और तुम्हारी दोनों बुआ। तीनों को मैंने पाला-पोसा और बड़ा किया। तुम्हारी दोनों बुआ की शादियां कीं और तुम्हारे बाप की तो दो-दो। और हंसने लगती। फिर कहती—तुम भी तो बचपन से मेरे पास रहे हो। देखो तो मैं बिना जन्म दिए ही मां बन गई!

पिता की शादी हो रही थी। मैंने पहली बार अपने घर में शादी होते देखी। हरी पत्तियों से भरे घने मंडप के नीचे हल्दी से पुता उदास खाम। हम सब उदास मंगलमयता के साये में थे। पूरे मंडप में खालीपन भरा था। पंडित जी आए। देवी-देवताओं से प्रार्थनाएं की गईं। प्रार्थनाएं इस खालीपन को और गहरा करने लगीं। वे कुछ शब्द थे जो एक बार फिर साहस करके बोले जा रहे थे। पिता उन्हें फिर सुन रहे थे। इन शब्दों के प्रति उनके चेहरे पर गहरा अविश्वास झलक रहा था। वे दो बार धोखा खा चुके थे। पुरा-पड़ोस की स्त्रियां लोक-गीत गा रही थीं। पिता क्षण-भर के लिए मुस्करा देते और फिर गहरे विषाद में डूब जाते। जैसे सब दूल्हे होते हैं पिता वैसे नहीं लग रहे थे। बीच-बीच में गीत रुक जाता। पिता ने एक लम्बी सांस खींची और मंडप से उठकर चले गए।

पूरी तैयारियां हो चुकी थीं। बारात पास ही एक गांव में जा रही थी। बाराती पन्द्रह-बीस ही थे। मेरी भी इच्छा बारात में जाने की थी। मैंने दादी को बता दिया और मन-ही-मन जाने की तैयारी कर ली। जब बारात जाने लगी मुझसे किसी ने जाने को नहीं कहा। तब मैंने ज़िद की। दादी ने मेरा ही पक्ष लिया। पर बब्बा इतने बिगड़े कि दादी को मारने दौड़े। दादी रोने लगी। मैं भी रोने लगा। बब्बा चीख-चीखकर कह रहे थे—तू बूढ़ी हो गई है, सठया गई है पर अभी मेरी मति नहीं मारी गई है। हम बाल-बच्चे लेकर बहू ब्याहने जाएंगे तो क्या कहेंगे लोग! हमारी तो ठीक लड़की वाले की नाक नहीं कटेगी। बहू अभी घर में आई नहीं है। क्या ये बोझ हम वहीं ले जाकर उसके ऊपर डाल दें। बारात चली गई और मैं रोता बिलखता रह गया।

बारात चली गई तो जैसे उसके साथ घर में भरा दुख भी चला गया जो कल सुख बनकर लौटेगा। घर में स्त्रियां ही रह गईं। सबको सुख की प्रतीक्षा थी। घर में कोई पुरुष नहीं था तब स्त्रियां ही पुरुष बनीं। दूसरे दिन सबेरे मैंने देखा—बुआ पिता का पेन्ट और कुरता पहनकर एक स्त्री को डंडे से मार रही हैं और वह उनके हाथ-पैर जोड़ रही है। वे कह रही हैं—साली पड़े-पड़े खाती और गुर्राती है, कौड़ी का काम नहीं करती। तुझसे तो अच्छी कुतिया है जिसे दो रोटी डालो तो आगे पीछे पूंछ हिलाती फिरती है। फिर बुआ जमीन पर लेट गईं और बोलीं—चल पैर दबा। वह स्त्री उनके पैर दबाने लगी। मैं अचम्भे में पड़ गया और छिपकर यह सब देखने लगा।

इतने में पुरुष बनकर एक और स्त्री आई। उसने वहीं खड़ी एक दूसरी स्त्री को पकड़ा और उसके स्तन दबाने लगी। वह बेचारी स्त्री मारे शर्म के गड़ी जा रही थी। फिर उसने उसकी साड़ी खोल दी। बाजू में पड़ा बेलन अपने हाथ में ले लिया और उसका पेटीकोट ऊपर उठाने लगी। वह स्त्री नंगी हुई जा रही थी। बाकी सब स्त्रियां बैठी-बैठी हंस रही थीं।

अब तो मुझे शर्म आने लगी और मैं वहां से भाग खड़ा हुआ। मैं आंगन में था। इतने में स्त्रियों के गाने की आवाज आने लगी। मैं ध्यान से सुनने लगा। हर स्त्री अपने पति की निंदा से भरे गीत गा रही थी। ऐसी निंदा कि पति सुन ले तो जान से मार डाले। जान से न मारे तो छोड़ जरूर दे।

शाम को बारात लौट आने की ख़बर सबसे पहले मैंने ही दी। सब स्त्रियां अच्छे-अच्छे कपड़े और गहने पहनकर तैयार थीं। वे दुमंजिले से नीचे उतर आईं और दरवाज़े पर खड़ी हो गईं। बुआ सबसे आगे थीं उनके सिर पर कलश था। घर के सामने एक जीप खड़ी थी। पिता उसमे सटकर नीचे खड़े थे और घर की तरफ़ ऐसे देख रहे थे जैसे वे अजनबी हों। अपनी-अपनी छतों और खिड़कियों से पड़ौसी झांक रहे थे। वर्षों से वे इसी तरह झांक रहे थे। सभी स्त्रियां पलक पांवड़े बिछाए खड़ी थीं। उनमें से कुछ जीप के पास गईं। उन्होंने पिता को अपने पास बुलाया फिर मां नीचे उतरीं। पिता आगे-आगे चले और पीछे-पीछे मां। वे दरवाज़े पर आकर खड़े हो गए। स्त्रियां उन्हें घेरकर खड़ी हो गईं। दूल्हा-दुल्हन की नज़र उतारी गई। न्यौछावर बांटी गई। दादी बोली—बहू, पहले दाहिना पांव देहरी पर रखो फिर घर में आओ। सुनहरी साड़ी से झांकता एक सुन्दर गोरा पांव मां ने देहरी पर रखा। वे भीतर आ गईं—मां के पांव बहुत सुन्दर होते हैं। एक सुनहरी साड़ी मां के पास होती है जिसे वह हमेशा अपनी पेटी में सबसे नीचे छिपाकर रखती है।

मां ऊपर के कमरे में आ गईं। स्त्रियां उन्हें घेरकर बैठ गईं। हम भाई बहन नयी मां को छिप-छिपकर देखने लगे। हम उन्हें देखते और पूरी तरह देख न पाते। हमारी आंखें जलने लगीं और नींद से भारी होने लगीं। हम दूसरे कमरे में दादी के पास चले गए। वे सबसे छोटे भाई को बहला रही थीं। वह रो रहा था। वे उसे शीशी से दूध पिलातीं और वह चुप न होता। तभी एक स्त्री उस कमरे में आई। उसकी गोद में एक छोटी-सी बच्ची थी। जो सो रही थी। उसने उसे पास के बिस्तर पर लिटा दिया और भाई को गोद लेकर अपना दूध पिलाने लगी। वह चुप हो गया। दादी बोली—तुम अपनी बच्ची के मुंह का दूध इस अभागे को कब तक पिलाओगी। एक वो थी जो इसके मूं का दूध छीनकर इस दुनिया से चली गई। एक तुम हो जो अपनी बच्ची का हिस्सा इसे देती हो। तुम भी तो मां हो, इसी दुनिया में रहती हो, तुम्हारे भी दुख हैं पर तुम तो निर्दयी नहीं हो।

हम बातें सुनते-सुनते सो गए। सवेरे उठे तो पता चला कुछ रिश्तेदार रात की गाड़ी से जा चुके हैं। सवेरे बुआ जा रही थीं। वे जाने की तैयारी करती जातीं और बार-बार हमें निहारतीं। बुआ जब जाने लगीं तो उन्होंने हमें ऐसे देखा जैसे हमारा कोई न हो।

हमारे दो घर थे। एक में बब्बा और दादी के साथ मैं रहता था। यह घर हमारे लिए बहुत बड़ा था। आधा खाली पड़ा रहता था। दादी रोज़ सवेरे घर की सफाई करते हुए कहती—रहो भले ही आधे घर में पर झाड़ू तो पूरे घर में लगाना पड़ती है। दूसरा घर पिताजी के लिए था जिसमें ऊपर के हिस्से में किरायेदार थे नीचे का आधा हिस्सा खाली था। दो घर एक घर के बराबर खाली थे। पिता नयी मां के साथ अपने मकान के खाली हिस्से में जल्दी ही चले गए…।

[अप्रकाशित उपन्यास—**'उसी शहर में'** से]

कविता

सात कविताएं

☐ देवराज

एक

तुम मेरे शब्दों, पदों और पद-विन्यासों को
टेढ़ी-तिरछी गतियों और स्थितियों
अटपटी भंगिमाओं और आकुल घुमड़नों को
क्यों इतना महत्व देते हो
तुम उस अस्तित्वव्यापी अन्तरग्नि का
आलोक-स्पर्श पाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते
जिसके विद्युत-स्फुलिंग
निष्ठुर हवाओं के हलके स्पर्श से भी
लपटों में भड़क उठते हैं।

दो

तुमने उन सितारों को कभी
सागर की तरंगित सतह के भीतर
मेरी इन आंखों की भांति
ताक झांक करते देखा है
मेरी तरह शायद वे भी सोचते हैं/कि
पाताल को स्पर्श करती इन अथाह गहराईयों में
कहीं/अन्तर्हित रहस्यों के मोती
और पूंजीभूत दिव्य द्युतियों के कोष हैं।

तीन

यह रोज-रोज सागर के लम्बे बालुई तट पर
देर तक बैठना/और उसके
फेनल प्रवाह की ओर ताकना

गुस्ताख़ी माफ
क्या मैं पूछ सकता हूं कि इस तरह
सांझ का सुनहरा वक्त बर्बाद करने की तुम
क्या कैफियत और सफाई दे सकते हो

चार

उधर रंगीली संध्या का ऐंद्राजालिक महौल
और लहरों का अकथ आकर्षण, उल्लास विलास
और इधर
बेरूप-रंग का मात्र दर्शक चैतन्य बना हुआ
मैं, मेरा उदासीन आत्म-पुरुष:
अजीब है यह विश्व भुवन कि इसने
नितान्त बे-समान हस्तियों को/पकड़कर
एक भौगोलिक परिधि में
इकट्ठा कर दिया है।

पांच

नितान्त छोटी, नाजुक-सी जामुनी आंख
और एकान्त बीहड़, विस्तृत विकास समुद्र
कहां यह कहां वह
कहां मैं, कहां यह विश्व
दोनों के बीच किसी तरह के रिश्ते या लगाव की बात
भला/आपकी और मेरी समझ में
कैसे आ सकती है

छः

उन फूलों को देखो
वसन्ती सुबह की हलकी हवा में नजाकत से
सिर हिलाते हुए वे
कुछ ऐसे मुस्कराते हैं जैसे उन्हें
अतीत और अनागत से कहीं कुछ
न देना न पाना हो,

मानो पल दो पल, घड़ी दो घड़ी का वर्तमान/उनके
महकते उल्लास और लहकते अह्लाद का
अक्षय खजाना हो।
उनके जीवन का हर प्रश्वास हर गति लेश
जैसे खूबसूरती की एक अदा है
उनके भोले मासूम से अन्दाजों पर/देखो तो
सारा जहान कुल जमाना/कैसा फिदा है।

सात

मेरे विषपायी शिव के नीले कंठ में/महासर्प की
चिकनी-चितकबरी काया का चमकता हार है
उनके चन्द्र किरणों से अंचित शीश पर/
शुभ्र सलिला जाह्नवी की
आंखों और मनचित को शुद्ध-पवित्र करने वाली : धार है,
मेरे गीतलोभी कानों में अनेक बार कृष्ण की
रस बरसती बांसुरी की मीठी तान बजती है,
मेरे कल्पना नेत्रों के आकाश में/हर रात
देवात्मा निर्मल नक्षत्रों की/मणिमाला सजती है,
मेरे नन्दन वन में रोज-रोज/पारिजात के
मोहक पुष्प खिलते हैं,
मेरी सरस्वती की नवरस वर्षिणी बीणा से
वेद की ऋचाओं, बुद्ध बचनों और उपनिष्दों की
सूक्तियों के साथ-साथ
कालिदास और विद्यापति के मादक स्वर निकलते हैं।
विश्व का अशेष रूप वैभव और सौन्दर्य समृद्धि
मेरे देश के कल्पना पटल पर : उतर आयी है,
उसकी समग्र तप विभूति
मेरी गंगा, नर्मदा और कावेरी के/स्वच्छ प्रवाहों में
आ समायी है।

[उच्चाध्ययन संस्थान, शिमला—171004]

तीन कविताएं

□ भगवत रावत

न जाने कब से

न जाने कब से
मिलना चाह रहा हूं एक आदमी से
जिससे गले मिलते ही
दोनों की जेब में रखे
अलग-अलग चश्मों के फ्रेम
दबकर सचमुच टूट जायेंगे

बातें करते-करते
बीत जाएगी सारी रात
और खाना रखा-रखा
ठंडा पड़ जाएगा

न जाने कब से
लिखना चाह रहा हूं एक लम्बी चिट्ठी
जिसका कोई ओर-छोर नहीं होगा
न जाने क्या-क्या नहीं लिखा उसमें
और आख़िर में
कुछ भी न लिख पाने का
अफसोस लिखा होगा

न जाने कब से
बहुत कुछ कहना चाह रहा हूं
न जाने कब से
कहीं सचमुच रहना चाह रहा हूँ

न जाने कब से
कहीं जाना चाह रहा हूँ
किसी ऐसी जगह
जहाँ पहुँचते ही बोल पड़े सारी जगह
अच्छा हुआ तुम आ गये
बड़ी देर लगा दी
पर अच्छा हुआ आ गये।

22 अप्रैल, 87

नदी के बारे में

मुझे करना है एक नदी पार
जो किसी भी समय दिख जाती है
गहराई से डराती
लहरों से लुभाती
हहराती हुई
पता नहीं कहाँ से
निकलती है
कहाँ
चली जाती है

बच के चला हूँ हमेशा
दूर…दूर…
नदी से
न देखने का बहाना करते हुए

कई बार
भूल जाता हूँ तो
चलता चला जाता हूँ
उसके साथ-साथ
और बड़ी देर बाद
होश आता है

फिर भी
लगता ही रहता है हरबार

मुझे
करना है एक नदी पार

हिम्मत नहीं हुई
किसी से पूछने की
पूछना चाहता था
नदी है तो पहले भी रही होगी
पहले के लोगों ने
क्या सुलूक किया इसके साथ
किनारे-किनारे
रहने के अलावा

तैरना कभी नहीं आया
पर मुझे
इस तरह नहीं बीतना है
उतर ही जाऊँगा
किसी दिन
नदी में
कूद ही पड़ूँगा
छपाक से ऐसे
कि कोई भी
बचा नहीं पाएगा

और
डूबते
उतराते
पहुँच जाऊँगा
नदी के पार

और कितना है विस्तार
इस नदी का
क्या आ गया हूँ
उस जगह
जहाँ से दोनों किनारे
दिखाई नहीं देते
जहाँ से

नदी के
    नदी होने की
    आवाज भी नहीं आती

तो फिर शायद
यही है वह जगह
    जहाँ मुझे आना था
यही है वह जगह
    जहाँ सब कुछ छोड़कर
    मुझे अपना
    पूरा जीवन बिताना था
यही है वह जगह
    जहाँ मुझे
    कभी भी
    डूब जाना था ।

3 जुलाई, 1987, भोपाल ।

अपने सपने में

याद रहे आये अपने सपने में
आधी से ज़्यादा उम्र पार कर
घर की तरफ लगभग भागती
स्त्री को रोक कर मैंने कहा
इतनी जल्दी में क्यों हो
थोड़ी देर रुको
एक बार
अपना चेहरा तो ठीक से देख लो
लगता है तुम भूल ही गई हो
कि तुम सुन्दर हो
सुन्दर ही नहीं
शायद सुन्दर से ऊपर
कुछ और हो गई हो

तुम्हारी आँखों के कोनों की सफेद जगह
इतनी निर्मल और अथाह है

कि उनमें नये सिरे से उतरा जा सकता है
तुम्हारे अंगों पर
धूप में तपने के बाद की गरिमा के
रंग का निखार है
एक ऐसे घोंसले की तरह
लग रही हो तुम

जिसे वृक्ष की शाखाओं की तरह
फैल-फूल-फल कर
सजाया जा सकता है
मन करता है
बीस बरस पहले की सी हिम्मत जुटाकर
तुमसे कुछ कहूँ
कहो तो हम अपनी उम्र यहीं कहीं रखकर
कुछ देर यहीं कहीं घूमें
हो सकता है इस तरह
जब हम उस पार पहुँचें तो
हमारे चेहरों पर
थकान की जगह
मुक्त होने के निशान हों

वह रुकी
और एक फीकी हँसी हँसकर
उसने कहा
आसमान की तरफ देखो
काले बादल घिरने वाले हैं
कुछ देर बाद
आँधी-तूफान के साथ
बिजलियाँ कड़केंगी
और धरती
ओलों से पट जाएगी
हमें जल्दी
घर पहुँचना चाहिए
और सबसे पहले
जो बना हुआ है

उसे बचाना चाहिए
अब इसे संयोग कहें
या सपने में सुनी बातों को
भविष्यवाणी मानें
हुआ यही कि जैसे ही आँख खुली
देखते-देखते आसमान काला पड़ गया
बिजलियाँ कड़कीं
तेज़ अन्धड़-तूफान के साथ
ओले बरसने लगे
और अन्दर और बाहर
सर्द सन्नाटा छा गया

पर मैं सच कह रहा हूँ
कि मैंने उससे
कुछ भी झूठ नहीं कहा था
वह एक सच था
जो धीरे-धीरे
डूब रहा था
कहीं किसी अनंत में
मैं उसे किसी तरह
बचाकर रख लेना चाहता था
अपने पास
कहीं अपने अन्दर
अपनी देह में
अपनी देह के पार
लिख देना चाहता था
मौसम के बावजूद।

22 मार्च, 87 भोपाल

[173 एम० आई० जी०, ब्लाक नं० 6, सरस्वती नगर, भोपाल]

तीन कविताएं

□ अजीत चौधरी

सामने है धवल गिरि

सामने है धवल गिरि
पीछे है हहराती विपाशा
ढलनों पर चीड़ और देवदारू हैं कतारबद्ध
चारों तरफ
बादलों के गुब्बारे लिए
समय यहाँ उतरा है
तुम्हारी स्मृति
एक तितली की तरह
यहाँ चली आई है
फूलों से अपरिचित
भटकती बेचैन
सुगंधि के सागर में
आओ ! तो देखो
मेरी तर्जनी की सीध में
धवल गिरि का चमचमाता हिमकिरीट
असंख्य कंपकंपाती बनैली पत्तियों से
रोमांचित है पृथ्वी
हर मोड़ पर झरने
साथ-साथ चलती
स्निग्ध निर्मल विपाशा
नींद में चली आई है

हिडिम्बा मंदिर

यहीं कहीं मनाली की घाटो में
पूर्णिमा के नृत्योत्सव में
देखा होगा महावली भीम ने
हिडिम्वा को
नाचते थिरकते कबीले के बीच
चाँदनी में उड़ती हिमफुहार और
ढोल नगारों की लयबद्ध ताल में
मंत्र मुग्ध साक्षात् किया होगा
भीम ने
किया होगा वरण वनश्री का
यह मंदिर प्रेम का है
ये चरण चिह्न प्रेम में डूबी
हिडिम्बा के हैं
जहां पहली बार
मंत्र मुग्ध देखा था भीम को

हिमाचल

हिमाचल से क्या लाए ?
दिया, मिट्टी का
शीशा, लकड़ी के फ्रेम का
इसी मिट्टी के दिये से
उठती लौ के प्रकाश में
देवदारू के फ्रेम के बीच
प्रतिबिम्बित होता रहेगा
हिमाचल
हमारी स्मृतियों में

[उप पुलिस अधीक्षक, भिंड, म० प्र०]

तीन कविताएं

□ महाराज कृष्ण काव

उपमा

मोती
गुलाबी पखुड़ी पर ठिठका
ओसबिंदु सा

मगर कितना ठोस
कितना निर्मम
रूप आकार के
स्थाई कटघरे में बंद,
पहुंचाता तुष्टि
मसनवी सुंदरी के अहं को,
सीप की अंधी सुरक्षा से
तिजोरी के खतरनाक अँधेरे
तक का यात्री

इसमें कहां
ओस-सी तरलता
शोषक वायु से
वह सप्रेम आलिंगन
किया है जिसने
महाकाल सूर्य का
निर्भीक साक्षात्कार
कहाँ सरल बोध
क्षणिकता का

वह जो है
समूचे खुले आकाश का
परिभाषा बिंदु
पंखुड़ी की फिसलन पर
ज़रा देर के लिए रुका
निष्काम परिव्राजक

कौन-सी मानसिकता से
उपजी होगी
ओस की
मोती से उपमा

कालिख

वह जब भी आता है उनकी महफिल में
सुन्न हो जाता है सब
एक पल के लिए

वह पल
ठिठककर
खिंच जाता अनंत
फ्रीज़शॉट-सा

सारी नज़रें यकलख़्त
उठती हैं उसकी तरफ
कोरों में लिए एक अपरिभाष्य शंका
मानो वह अजनबी ही नहीं
दुश्मन भी हो
और वह खड़ा रह जाता दहलीज़ पर
मंत्र-शापित सा
एक अजीब अपराधबोध से त्रस्त

वह जानता है, वे भी समझते हैं
उसने कुछ नहीं किया
मुट्ठी-भर लोगों ने पोती है
पूरे समाज के मुंह पर कालिख

मेडिटेशंज़ आन अ लीफ

लॉन के बीचों बीच
देख गिरा हुआ पत्ता
गूंजता एक शीर्षक
"मेडिटेशंज़ ऑन अॅ लीफ"

अधिकतर सूख गया है पत्ता
झूलते क्षणों में
सोचा होगा इसने
मरूंगा समय से पूर्व ?
बस हवा की लहर ने
किया होगा हलाक़
आदम की औलाद-सा

यह गोल सूराख
करामात है कीड़े की
मगर यदि चौंकाना हो
तो क्यों न कहा जाए
यह पत्ता उड़कर आया है
पंजाब से

पत्ता हो चला है सख़्त
हो जाती है सख़्त
हरी मरी हुई चीज़

तीन कविताएं

□प्रफुल्ल कुमार 'परवेज़'

नदी

चट्टनों की
दरारों से सरकता
रास्ता बनाता
बूढ़ों का संगठन
होता है—नदी।

नदी
बींध कर पहाड़ी कैद
जब बाहर आती है
पहाड़ों पर जमी बर्फ
राह पा जाती है।

नदी
जहां जहां से गुज़रती है
वहां वहां
मोम की तरह
पिघलता है पहाड़।

नदी—
कभी नहीं रुकती
टकराती है
द्रुत हो जाती है
तैनात अवरोधी चट्टान
देखती रह जाती है।
चुस्ती से छलांगती है

ढलान-दर-ढलान
खाई-दर-खाई

नदी
कभी घायल नहीं होती
नदी के संतुलन से
हर बार हारता है पहाड़
पहाड़ के सीने पर
सांप की तरह
लौटती है नदी।
नदी के बहाव से
बुझती है प्यास
फलते फूलते हैं खेत
मिटती है भूख
रोशन होते हैं घर

नदी
कभी खत्म नहीं होती
सागर हो जाती है।

चश्मा

वह फूटता है
अंधेरों ही अंधेरों में
रास्ता टटोलता
अगणित जकड़नों से
उबरता
परत-दर-परत
चीरता पहाड़
कतरा-कतरा छनता
स्वच्छ और निर्मल
प्रकाश को नमन करता।

कड़क सर्दी में कोसा
कड़क गर्मी में शीतल
मौसमों की क्रूरता का विरोधी

मौसम-पीड़ितों का हम दर्द।

जंगल से लौटते लकड़हारों और
शहर से लौटते दिहाड़ीदारों के
कठिन सफ़र के बीचों-बीच
प्यास बुझाने को तत्पर
आत्मीय पड़ाव

धरती का दोस्त
बच्चों का खिलौना
अच्छे दिनों का तरफदार।

जिन घरों के बच्चे

जिन घरों के बच्चे
अक्सर पानी पी कर
भूख को धत्ता बताते हैं

जिन घरों के बच्चे
स्कूल नहीं जाते
पल-पल पढ़ते हैं जीवन

जिन घरों के बच्चे
दुर्लभ
बापू की मुस्कान
मां की हंसी स
मेलों-खिलौनों की तरह
बहलते हैं

रेत से नहीं बनाते घर
हर बरसात के बाद
दरकी दीवारों के लिए
मिट्टी को चिकना बनाते हैं

जिन घरों के बच्चे
पांव और ज़मीन के बीच

किसी भी सहूलियत से वंचित हैं

पांव तले
महसूस करते हैं
हू-ब-हू ज़मीन

जिन घरों के बच्चे
बचपन के बीचों-बीच
बचपनहीन होते हैं

वह घर
उम्मीदों के भंडार हैं
उन घरों के बच्चे
बेहतर दुनिया के
विश्वस्त आधार हैं ।

[मुख्यालय, हिमाचल पथ परिवहन निगम, शिमला-171001]

नटनी का शाप

किसी अज्ञातनामा अंग्रेज कवि की काव्य-कथा का छन्द-बद्ध हिन्दी-रूपान्तर। कथा सिरमौर (रियासत) की एक जानी-मानी लोक-कथा पर आधारित है।

☐ हिन्दी-रूपान्तर : कैलाश भारद्वाज

सिरमौरी पर्वत-प्रदेश में दूर-दूर तक
फैला था आतंकपूर्ण शासन राजा का।
ऊपर शाही महल पहाड़ी की ढलान पर—
नीचे उफन-उफन धारा तूफानी गिरी[1] की
चट्टानों की कट्टर छाती कूट रही थी।

बाहर को निकली थी जो चट्टान दानवी
उसके सर पर राज-महल की भीत खड़ी थी।
सर चकराने वाली थी सचमुच ऊंचाई :
सबसे ऊंची बुर्जी से छूटा पत्थर बस,
पाताली पेंदे में गिरता गिरि के सीधा !

उसी बुर्ज के छज्जे पर थे जाम छलकते !
राजा और मुसाहिब उनके करते ख़ाली
प्यालों पर प्याले पगलाने वाली मय के
और खनकतीं खिलखिलाहटें—खिल-खिल खुशियां
डूबी जाती थीं गिरि की दहाड़ में जैसे।

'कहां गई नटनी—मेरे दिल की वह रानी ?
नाच-रंग की पटरानी को यहां बुलाओ !
बैठे आकर साथ, करे झूठा यह प्याला—
उसकी काली आंखों से, अमृत स्वर से
इन लम्हों की उम्र और कुछ बढ़ जाएगी।

---

1. एक क्षेत्रीय नदी नाम

'लो, पीते यह जाम तुम्हारे नाम प्रिये, हम
तुम आओ, पल-भर को बग़लगीर हो जाओ।
लो यह प्याला, घूंट भरो औ' हमें बताओ :
कैसे सीखी नट-विद्या की ये लीलाएं—
कठिन कलाएं, जिन पर होना नाज़ उचित है ?'

तीन वर्ष की थी, तब से चलती है शिक्षा,
सीखी है संतुलन-कला मैंने बचपन से।
चढ़ी एक के बाद एक ऊंचाई मैंने—
जब तक सीखीं नहीं बड़ी से बड़ी कलाएं
दिखलाई जा सकतीं जो मानव के द्वारा।

'बीच नाच सकती हूं नंगी तलवारों के
बांध आंख पर पट्टी—अंडों की पांतों पर,
मेरा वह संतुलन, पकड़ मेरा वह पक्की—
सकती हूं मैं झूल बांस पर—चल सकती हूं
खिंची रज्जु पर एक सिरे से मैं दूजे तक !'

'रस्सी पर चलते देखे हमने बहुतेरे—
तुमको चलकर आज यहां दिखलाना होगा।
डोर खींच देंगे हम आर-पार सरिता के
और अप्सरा सी चलकर जाओगी जब तुम
देखेगी वह दृश्य प्रजा मेरी नीचे से।'

'सर चकरा देने वाली ऊंचाई है यह
दो हज़ार फुट ऊपर है बहती धारा से,
जहां शेरनी-सी दहाड़ती नदी रात-दिन—
इस अद्भुत करतब को दिखलाने से पहले
मैं इनाम की बात खोल लेना चाहूंगी।'

'हां, इनाम भी होगा ऐसा ही अद्भुत—हम
मुहर-बन्द संकल्प-पत्र लिखकर देते हैं :
बांध पीठ पर पुत्र, अगर बुर्जी से चलकर
छू लोगी तुम शिला गिरी के पार खड़ी जो—
मेरा आधा राज्य तुम्हारा हो जाएगा !'

क्या राजा बन जाएगा इस दिल का टुकड़ा ?
हुक्म चलेगा क्या उसका लोगों के ऊपर ?
अच्छा, डलवा दो रस्सी गिरी के ऊपर से
और देख लो अपनी आंखों से ओ राजा !
खेल जान पर सकती है मां बेटे के हित।'

बाण चलाया गया पहाड़ी पुष्ट धनुष से
जिसके साथ बंधा था एक रेशमी धागा।
चलता रहा सिलसिला फिर तो बहुत देर तक—
जब तक नहीं बना रस्सी का ख़तरनाक पुल
खुले मृत्यु के जबड़े से प्रवाह के ऊपर।

कस ली उसने कमर पीठ पर बांध पुत्र को
ख़तरे से बेख़बर नींद में खोया था जो।
मुस्काकर बोली, 'सलाम, राजा !' धीरे से।
फिर झुककर नीचे ज़मीन पर घुटनों के बल
अनजाने बोलों से खुद बन गई प्रार्थना :

'ईश्वर मेरे पितामहों के, मेरे कुल के,
जीवन औ' सम्मान—सभी कुछ तो है तेरा।
तू ही देता यश-अपयश व मृत्यु भी तू ही—
यदि हो तेरी मेहर तो यह दासी तेरी
राज-वंश में नाम लिखा जाए निज कुल का !'

उठा लिया संतुलन-प्रदाता बांस करों में।
बढ़ा दिया फिर पांव मौत की उपत्यका में—
बढ़ती जाती निडर, भरी आशाओं से वह
जैसे कोई परी चल रही बीच गगन में
आंखें जमी हुईं सरिता के पार—शिला पर !

'बस, बस—बस, आजा वापस !' राजा चिल्लाया,
'महज परीक्षा थी यह तो साहस की तेरे।'
आगे ही आगे बढ़ती जाती पर नटनी—
कैसे पक्के पांव, चाल कैसी मस्तानी !
रोक न पाएगी जैसे कोई भी बाधा।

आधी दूरी पार—और वह बढ़ी जा रही !
स्वेद-बिन्दु छलके हैं राजा के माथे पर।
लगता है, बस, आधा राज्य गया हाथों से !
तभी अचानक आंख ठहरती राजकुंवर पर—
किन्तु हाय, निज करनी से निस्तार कहां है ?

पैतृक राज्य नटों के हाथ चला जाएगा
लगा दांव पर दिया मूर्खतावश मखौल में।
शाप जाति का, राजपूत चौहानों का औ'
अपने ही बच्चों का—अपने रक्त-मांस का
सदा-सदा को होगा उसके अपने सर पर !

जकड़ लिया मस्तक पिशाच ने जैसे उसका—
ली तलवार खींच उसने झटके से बाहर।
फेंकी एक नज़र फिर उस बढ़ती छाया पर—
थी मुश्किल से दूर लक्ष्य से पग दस-बारह
और काट दी पलक झपकते बैरिन रस्सी !

हाय, सुना क्या शोर ? चीख दारुण अमानवी !
गिरने की आवाज़ सुनी नीचे कुछ तल में ?
जैसे उल्कापात हुआ हो आसमान से !
विद्रोहिणी अप्सरा जैसे गिरे स्वर्ग से
नीचे—गिरी के बहते पाताली पानी में !

माता औ' मासूम पुत्र खो गए नदी में,
निगल गई उनको गिरी की हहराती धारा,
किन्तु झूलते टुकड़े कटी हुई रस्सी के
हैं गवाह उस अद्‌भुत करतब की हत्या के—
आखिर किसके माथे है यह दाग़ ख़ून का ?

शाप सज्जनों का है उसके सर पर भारी
गला सत्य का घोंट कि जिसने स्वार्थ संवारा !
हाय, अप्सरा सी—साहस की उस पुतली का
काट दिया असमय में खिले फूल-सा जीवन—
निन्दनीय दुष्कर्म किया निश्चय राजा ने !

क्या रेशम की शैया पर सो पाएगा वह
गिरी के दिल दहलाने वाले आर्तनाद में ?
क्या आत्मा मर चुकी इस कदर इस राजा की ?
इसे न डर हत्या से मरे हुए प्राणी का—
औ' न देवताओं का—रक्षक निज शासन के !

मिट्टी में मिल चुकी प्रतिष्ठा जिस शासक की
भूल सकेगा क्या वह हाहाकार मृतक का ?
डूब चुका सूरज किस्मत का इस राजा की—
टूट चुका है शौर्य, वीरता रूठ गई है ।
घिरा हुआ है राज्य शत्रुओं से पहले ही !

युद्ध हारकर भाग गया है राजा कायर
और छुप गया पत्थर के दुर्जेय दुर्ग में—
वही दिवस है आज, चढ़ी थी जब नटनी बलि !
रौद्र रूप अम्बर—सूरज ढलता है ख़ूनी !
पंख पसार दिए हैं लो, काली आंधी ने !

उड़ता रहा बवंडर सारी रात सिरों पर
रही ढूंढ़ती चमक-चमक बिजली कुछ जैसे,
गड़-गड़ करते मेघ, तड़ित तड़-तड़क तड़कती—
रहा बरसता गगन मूसलाधार रात भर
'सुनो, सुनो, कुछ ढहने की आवाज़ हुई है !'

तब छा गई अचानक ख़ामोशी शमशानी,
गूंज रहा था क्रोधपूर्ण गर्जन बस, गिरी का
नीचे बसते लोग फुसफुसाते आपस में :
'बहुत बड़ा कोई अनर्थ है हुआ राज्य में—
सिरमौरी किस्मत का भेद सुबह खोलेगी !'

खड़ा नगर के सिर पर था आतंक-भवन जो
औ' वह ख़ूनी बुर्ज अर्श को छूने वाला—
टूट गिरे थे गिरी के उस अथाह पानी में
(मय हत्यारे राजा औ' उसके कुटुम्ब के)
कब्र बन चुकी थी जिसमें नटनी की पहले !

कुछ कहते थे—'नभ से भेजे वज्रपात ने
तोड़ दिया था डिल को, जिस पर महल खड़ा था।'
कुछ कहते—'पाताली देवों द्वारा भेजा
भू-कम्पन था—उनको खुद महसूस हुआ था
खींच नरक में नृप को—कठिन दण्ड देने को !'

स्वर्ग-नरक कुछ नहीं, नटों का जादू था वह !
(होता है प्रतिशोध भयंकर 'तुच्छ' जनों का)
रहता सदा सुरक्षित भेद नटों के कुल में :
यह भी कारीगरी एक थी महाविलक्षण
उस कौशल की, जिसके बस, नट ही हैं ज्ञाता !

[वाणी विहार, नाहन, हि० प्र०]

समीक्षा

कांपती उंगलियों में अभी बाकी हैं संवेदन

□ रेवती रमण

प्रकृति-राग और मानवीय समृद्धि में सहज संतुलन कायम कर हमारे समय में जो लोग बेहतर छोटी कविताएं लिख रहे हैं, उनमें **केशव** भी उल्लेखनीय हैं। 'हवा', 'बरसात', 'बाढ़','बर्फ़', 'दरख्त', 'धूप', 'पन्ना', 'बसन्त', 'दिन', 'रात', 'छाता', 'संगीत', 'रोशनी की लहर' और 'ऋतु-परिवर्तन' जैसे विषयों पर कविताएं लिखते हुए इस कवि को जीवन्त आस्था और स्वस्थ मानवीय उल्लास के जिज्ञासु के रूप में देखा जा सकता है। उसके **'धूप के जल में'** समकालीन मुहावरों की चलताऊ शब्दों की मायावादी आक्रमकता बहुत ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलती। एकदम शान्त, स्थिर, जल-तरंग-सी बजती उनकी काव्य-भाषा परिष्कृत कला रुचि के बावजूद एक अलग तरह की मानवीय संवेदना उजागर करती है। इसमें कहीं कोई छल-प्रपंच नहीं; सीधा सरल, सहज जीने की आकांक्षा का दुर्लभ मितकथन है यह। देखा जाए तो इस कवि में नेतृत्व की न किंचित् महत्वाकांक्षा है और न क्षमता ही। सिर्फ छोटे-छोटे संवेदन-खण्ड ही यहां-वहां बिखरे पड़े हैं —अपनी ताज़गी और हृदय-संवाद की नैसर्गिक इच्छा के साथ। अत:, इनका स्वरूप हमारे समय में थोक में लिखी जा रही उन कविताओं से भिन्न और अपरिचित का-सा है जो अक्सर बड़-बोली होती है और कविता की मूल प्रकृति के विरुद्ध तोड़ने-बिखेरने में अपेक्षाकृत अधिक रुचि लेती है। दूसरे शब्दों में समकालीन संवेदना का पता देकर भी ये आक्रमक नहीं हैं, ताजा, तल्ख, संवेदना के बावजूद कोरी सामयिक प्रतिक्रियाएं इन्हें हम नहीं कह सकते। यद्यपि मौजूदा भारतीय राजनीतति और अव्यवस्था के नियामक शोषणतन्त्र से पूर्णत : निर्लिप्त रह जाना भी इस कवि के लिए अस्वाभाविक ही होता, किन्तु इस पर भी यह कहना अनौचित्यपूर्ण नहीं होगा कि केशव मानवीय चिन्ताधारा से अनभिज्ञ नहीं है।

'धूप के जल में' संकलन की कुल चौवन कविताओं को पढ़कर यह समझ पाना कठिन नहीं कि केशव की संवेदन-क्षमता असाधारण है। उनमें काव्य-वस्तु की विविधता नहीं, अनुभूति की गहराई है। उनकी स्थानीयता को पिछड़ेपन का पर्याय न माना जाए तो मैं कहना चाहूंगा केशव शिमला या हिमाचल प्रदेश के कवि हैं, ठीक वैसे ही जैसे राजेश जोशी भोपाल या मध्य-प्रदेश के कवि हैं। 'धूप के जल में' संकलन की कविताएं मेरे कथन का समर्थन करेंगी। उदाहरणों से बात ज्यादा स्पष्ट होगी—

> **शहर जिस सुबह के लिये अंधेरे से लड़ता है/कौन जंगल में भटकी भेड़ की तरह/उस सुबह को खूंटे से छुड़ा/मचान की ओर दबे पांव बढ़ता है/अहेरियों से घिरे कस्तूरी मृग की तरह/दिन खबरों के पहिए पर रफ़्ता-रफ़्ता सरकता है। (शिमला—एक)**

केशव की यह जिज्ञासा कल्पना-लोक के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पन्त से बहुत भिन्न नहीं है, लेकिन उनका आशय कोमल प्राण होकर भी हमारे समकालीन कवि की नियति और आकृति आंकता है। इस कविता की अगली पंक्तियां हैं—

मौसम छलकता है ऊन के गोले की तरह/ दिनभर/आंगन-आंगन द्वार-द्वार/ कौन चुपके से इस गोले को अपनी जेब में रख/अंधेरे का पहाड़ चढ़ता है/रात आती है खामोशी के पालने में बैठ/हाथ से नहीं मिलता हाथ तब/हाथ से धुंध टकराती है— (धूप के जल में)

यह समूची कविता शहर की अजनबीयत से लड़नेवाली, कवि की शहर की समग्रता को आत्मसात कर अभिव्यक्ति देने वाली उत्कृष्ट कला का नमूना है। जो लोग शिमला शहर में कुछ दिनों तक रहे चुके हैं, उन्हें यह शीघ्र समझ में आ जाएगा कि केशव ने कैसी निश्छल भावुकता से इस शहर को जाना है। काव्य-वस्तु के प्रति यह अनायास संलग्नता कवि के 'स्व' की रक्षा के अतिरिक्त हमारे समय के कवित्व का एक महत्वपूर्ण अध्याय रचती है।

शिमला पर ही लिखी दूसरी कविता इस स्थिति को बेहतर स्पष्ट करेगी। देखा जाए तो यहां एक नैसर्गिक जिज्ञासा से उत्पन्न भावात्मक कौंध है, जो बहुत शान्त और संयमित ढंग से सामयिक चिन्तन का भंवर बनाती है। वस्तुतः यह एक विशेष प्रकार की विनम्र शब्द-योजना है जो समय की चुनौती से कतराकर नहीं, बल्कि पूरी शक्ति और आवेग से सामना करते हुए एक सजग शब्दकार की अनौपचारिक उपस्थिति दर्ज कराती है। केशव का यह शब्द-कर्म ऐसा है जिसे हम उच्चकोटि का बौद्धिक क्रिया-कलाप नहीं कहना चाहते, बल्कि इससे भिन्न शब्दावली में एक सहज किस्म की पिघलती हुई बर्फ़ीली मन्द हवा का शीतल स्पर्श है यह, जिसका भीतरी अदृश्य ताप दृश्य और विवेक के द्वन्द्व का अतिक्रमण कर आत्यन्तिक रूप से सुखद अनुभूति बन गया है। शिमला जैसी जगह में—

खिड़कियों के बाहर की नीली घाटियों में/दम तोड़ता धूप का अन्तिम टुकड़ा/घर लौटते बच्चे/छप्परों पर गाढ़े धुएं की तरह उतरती शाम दूर कहीं चलने के लिए आतुर सीटी बजाता इंजन/अंधेरे के विवर में सरकता/अभी-अभी जन्मा यह शहर/सहसा करवट बदलकर पिघलने लगता है कवि के भीतर जमा हुआ कुछ

कहना अनावश्यक है कि धूप के टुकड़े के प्रति यह सघन आत्मीयता, सान्द्र ममत्व हिमाचल के कवि के लिए ही व्यक्त कर पाना संभव और स्वाभाविक है। इस कृति में धूप के एक से एक आकर्षक बिम्ब विविध रंग-रेखाओं में, कहीं सजे-बजे हैं—

नजर घुमाकर देखो/कोने में हर पल तत्पर/किसी मौसम के लिए तुम्हारा छाता/यह अलग बात है। पिछले मौसम में कुछ कम भीगा, धूप की छेनी ने छीला/पर आड़ा तिरछा

केशव प्रत्येक स्थिति में धूप के हिमायती हैं, अतः कुल मिलाकर इससे सम्बद्ध उसके चित्र सम्मोहक और पारदर्शी हैं।

धूप की महिमा अपनी पूरी आभा में यहां व्यंजित होती है, एक इस कारण से भी कि इसका नैसर्गिक सम्बन्ध दिन से है—और वह धूप की तरह की आकर्षक किन्तु क्षणभंगुर है—

[1] दिन पलक झपकते गुजर गया किसी मेल गाड़ी की तरह और हम खड़े रहे अपने तम्बू कन्धे पर लिये। —पृ०-68

धूप और दिन के अतिरिक्त इस संकलन में 'बर्फ' और 'पेड़' के भी असाधारण बिम्ब अंकित हैं। बर्फ गिरने का एक दृश्य द्रष्टव्य है—

सब अन्दाजे ग़लत निकले/कुछ इस तरह गिरी बर्फ़ इस बार / या शायद गिरती है इसी तरह हर बार/सबसे बड़े पेड ने अपने से छोटे पर/उस पेड़ ने पौधे के कन्धों पर डाल दिया बर्फ का बोझ / पौधा उस बोझ को कन्धों पर रखे मुस्करा रहा है/सबसे बड़ा पेड़ यह देख-देख बल खा रहा है

देखा जाए तो 'बर्फ', 'दिन', 'धूप' या 'पेड़' पर लिखते हुए केशव सरीखे समकालीन कवि काव्यवस्तु की यथातथ्यता पर अपना कथ्य आरोपित नहीं करते, बहुत सहज ढंग से अपना मन्तव्य साधते हैं। यह बात पेड़ से सम्बद्ध उनकी कविता में विवेचन से ज्यादा स्पष्ट होगी। उनकी 'फर्क' शीर्षक कविता में पेड़ का बिम्ब इस रूप को उभारता है—

यहां इस जंगल में नहीं चाहे कोई आस-पास/सिर्फ पेड़ ही पेड़ आंधियों से कन्धा भिड़ाते/मौसमों को गले लगाते/अपनी खामोशी हर पल तोड़ने के लिए उद्धत और धूप के जल में अपनी प्यास बुझाने के लिए नत-मस्तक/उनकी छाया जोड़ती है उन्हें एक-दूसरे से—

इस कविता के उत्तरार्द्ध में आभिजात्य-मुग्ध भद्र-पुरुषों का विवरण है, जो बर्फ के आतंक से बचने के लिए बीयर पी रहे हैं और रबर की मानिन्द खींच रहे हैं सीढ़ी-दर-सीढ़ी अपनी छाया। किन्तु नाखूनों की बढ़ती लम्बाई तोड़ रही है उन्हें एक-दूसरे-से। इस तरह केशव पेड़ की भूमिका सुविधाजीवी आत्मग्रस्त कथित भद्रजनों की तुलना में बेहतर मानवीय, जीवनोष्मा से परिपूर्ण संघर्षशील और विनम्र दिखाते हैं। प्रकृतिक उपादानों से संलग्नता हमारे समकालीन कवियों के लिए एक अव्यक्त अनिवार्यता है। 'पेड़' उनकी संघर्ष-चेतना और स्वाभिमान को एक तरह से प्रतीकित भी करते हैं।

वैसे, केशव अपने समकालीनों की चेतना से टकराते हुए जो कुछ रच रहे हैं उसमें उनका वैशिष्ट्य हिम प्रदेश की संस्कृति के संदर्भ में ही द्रष्टव्य है। उनके इस संकलन में शिमला की बर्फ़ीली 'हवा' और 'बरसात' के भी अलग दिखने वाले बिम्ब समायोजित हैं।

केशव अपने समय के विशिष्ट कवि हैं, इस अर्थ में कि वे दुनिया को तख्ती की तरह सामने रखकर वक्त की नोक से जो कुछ लिखना चाह रहे हैं, उसमें कहीं दिए की रोशनी में फसलें चीरते होठों का गीत है, तो कहीं प्यार के जिस्म पर जमी हुई बर्फ़ को पिघलाता सूरज है पूरी ऊष्मा के साथ। ऐसा लगता है जैसे वें फनफनाती हुई पहाड़ी नदी को पोटली में बांधकर बर्फ़ीली हवा से लड़ने का संकल्प जुटा रहे हों, शायद हरी-भरी आवाज़ों के पक जाने के पहले की स्थिति हो यह, तब भी एक आधिकारिक अहसास है उन्हें कि—

एक पत्ता टूटकर शाख से उड़ चला आसमान की ओर / और बन गया आसमान के लिए चुनौती···

क्योंकि, अनन्त विस्तार को अपने में भर लेने की यह महत्वाकांक्षा कहीं अमूर्त्त नहीं है, यद्यपि वह मानवीय है, आत्मानुसन्धान की तरह का होकर भी 'आत्मन' का बिल्कुल लौकिक और निसर्ग साक्षात्कार, एक विश्वसनीय संबोधन भी—अद्वैत की ऐन्द्रियक प्रस्तुति—

कोई गाता है / कोई रोता है / जीवन में कुछ न कुछ तो होता है/तू इसमें से गुजर / मत टूट / व्यथा के निर्मम पंजों में दे नेत्र अपनी सामर्थ्य को / अपने ही माध्यम से पाएगा तू / लगता पराए कन्धों से जो असंभव / ईश्वर को

तलाश में भटकने से कब मिला है कुछ / मन्दिर तो भीतर है और तलाश अपनी—(तलाश)

प्रकृति, प्रेम और मानवीय समृद्धि को उसकी समूची गरिमा और ऐश्वर्य में लिखते हुए केशव अनिवार्यतः काव्य वस्तु की विविधता या जटिलता से अपरिचित एक जिज्ञासु और मासूम शिशु के निश्छल आवेग का अभिसार रचते हैं। निस्सन्देह वे संश्लिष्ट राग-विभव के रचनाकार नहीं हैं। दरअसल, प्रफुल्लित प्राणों का उत्सव स्पन्दन उनकी कविताओं में इतना अनायास है कि बाकी चीज़ों की उपस्थिति हाशिए पर जान पड़ती है। उनके काव्य-संसार के केन्द्र में स्थित है—जीवन, यौवन और राग का मुक्त चैतन्य कल्प, गन्ध-मुग्ध अभिप्राय। द्रष्टव्य है यहां 'ऋतु—परिवर्तन' की एक कोमल, सुरूप, गतिशील स्रवण-स्पर्श-गन्ध संयुक्त चाक्षुषबिम्ब-योजना—

पोर-पोर बसी गन्ध अनजान-सी भर गई / पंछियों की कतार से अरगनी सूने आसमान की/हवा के झूले पर बैठ/आंगन में उतरी है/ऋतु फिर मेहमान-सी

रात के अँधेरे में तैरती जुगनुओं की तरह आहटें, एक हल्की उदास गूंज में डूबी हुई शाम, गोधूलि बेला में गाती नदी, बच्चे की आंगन में गूंजती किलकारियां, पलक झपकाती रोशनी की लहर, रंगहीन सांझ की कोख से फूटता हुआ रंगों का एक झरना और धारियों में आंख-मिचौनी खेलते शिशु सूरज की प्रस्तुति केशव की काव्यात्मक क्षमता के उज्ज्वल निदर्शन हैं। एक तरह से देखा जाए तो उनकी यह बिम्ब-योजना कवि की ललित कलात्मक व्याप्ति का प्रमाण है। इसकी मौजूदगी में उनका कवित्व अपने सीमित आशय के बावजूद अज्ञेय और शमशेर के प्रभामण्डल में ऊंची जगह की अपेक्षा रखता है। दूर की कौड़ी न लाने पर भी, बिम्बधर्मी कवि का रस-गन्ध से सरोबोर यह राग-विभव उसके आत्मविभव के बचे होने का प्रमाण है। यह कवि सभ्यताक्रांत नहीं है इसीलिए शहर में रहकर भी शहरी बिरादरी से बाहर है, उस दरख्त की तरह जो धूप को अपने अंग-अंग में कर भी उससे मुक्त रहता है। पानी को जड़ों का पता बताकर भी अपनी जमीन से जुड़ा रहता है।

केशव के यहां सौन्दर्य का एक सरोवर है, कुहासे और धुंध के आर-पार इसमें उन्मज्जित होकर सुबह के सूर्य की सतरंगी किरणें अपनी आभा से पाठक के भीतर का अंधेरा पर्त्त-दर पर्त्त निर्मूल कर सकने की क्षमता और आकांक्षा से भरी-पूरी हैं। तय है कि भीतर की मुक्ति ही से वास्तविक मुक्ति संभव और साकार होती है। केशव की कविताएं अपने प्रतिफलन में अनेक मार्मिक स्थलों पर मुक्ति की उद्दामता घटित करती हैं। यह शायद इसलिए है कि केशव अपनी मौलिकता में प्रेम के पक्षधर हैं। उनके मितकथन का रहस्य भी इसी में निहित है। प्रेम में भाषा का व्यक्त मौन अव्यक्त रूप से मुखर होता है। 'धूप के जल में' इस आशय के कई-कई दृश्य अंकित हैं...

"एक पंक्ति भी और ले जाएगी हमें दूर / बहुत दूर / कुछ मत कहो रहने दो / तमाम दुनिया को / एक बिन्दु की भाँति स्थिर बहने दो / इस संगीत में डूबी हुई नदी को / क्या पता / उग आये कोमल-सा कोई पल-स्पर्शों को अनकहा रहने दो। (कुछ मत कहो)

'धूप', 'पेड़', 'दिन', 'छाता', 'रात', 'पन्ना', 'दरख्त', 'आलोक', और 'बर्फ़' पर कविता लिखते हुए केशव शब्दों के वह रसिया नहीं हैं जो एक विशाल वट वृक्ष के पास खड़ा है और अपने विचारों पर मोहित कल्पनाओं की जुगाली करता प्रतीत होता है। यद्यपि वे दरख्त की

तरह हो जाने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं, जो एक जगह खड़े रहकर भी चलते जाने का रहस्य है और जो हवा को अपने सिर पर मंडराते देखकर विचलित नहीं होता, उसके संग-संग बहता है। धूप और पानी को क्रमशः अपने अंगों में भरकर और जड़ों का पता बताकर जो एक साथ मुक्त भी रहता है और ज़मीन से जुड़ा भी। कवि उस दरख़्त की तरह होना चाहता है जो अकेले होते हुए भी छाया देते रहने का निदर्शन बना है —केशव का यह लोकहितकारी दरख़्त दुष्यन्त के उस अस्वीकृत दरख़्त से भिन्न है, जो अब छाया देने में असमर्थ हो गया है—

यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है
चलो यहां से चलो और उम्र भर के लिए(साये में धूप)

इस तरह देखा जाए तो केशव परम्परा का मूल्यांकन भी करते हैं। वे आनन्द की साधनावस्था को अनदेखा न करते हुए भी, आनन्द की सिद्धावस्था को प्राथमिकता देते हैं। प्रचलन की चिन्ता से बेखबर न रहकर भी वे अनुभूति की प्रामाणिकता के कायल हैं। केशव युगबोध का अनादर कतई नहीं करते, इस संकलन की दर्जनों कविताएं जो सत्ता की संस्कृति और व्यवस्था की विसंगति पर व्यंग्य प्रहार का प्रायत्निक समायोजन हैं, मेरी स्थापना का समर्थन करेंगी। खासतौर से 'मुनादी', 'बाढ़', 'कुर्सी', 'गांव में एक मौत', 'दु ख के पहिए पर', 'आजादी एक शब्द है', दोस्त के लिए', 'चीख और रोटी के बीच' जैसी बहुआयामी और यथार्थोन्मुख कविताओं की उपस्थिति इस संकलन के रचनाकार की बहिर्मुखता प्रतिपादित करती हैं। इन्हीं में एक 'पलाश वन' भी है जो इस संकलन की उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त 'पुत्र के नाम' और 'अम्मा का खत' उत्कृष्ट परिणत कविताएं हैं।

पुनश्च: इस संकलन की कविताएं छोटी हैं आकार-प्रकार में, सीमित आशय की अभिव्यंजना, इसी लिए उनकी संरचना प्रगीतात्मक है। काव्यभाषा संवेदना का पीछा करती हुई, अनुभूति की गहराई का पता लगाने में कुछ समर्थ, कुछ असमर्थ।

कवि जैसे आश्वस्त कर रहा हो, शाब्दिक लफ्फ़ाजी के सिरफिरे माहौल में—बेतरह लहूलुहानकानों को, कि 'एक-दूसरे के बीच स्मृति है कबूतर की तरफ फड़फड़ाती और इच्छा है कंगूरों पर धूप की तरह अलसाती' इस उम्मीद में कि तुम्हारी खिड़की की चौखट पर बैठी नीली चिड़िया गाएगी कोई यायावर गीत—

सुनो
अभी तक नष्ट नहीं हुआ वह आलोक
जिसने बुना हमेशा
आर-पार जाने के लिए एक पुल
अभी तक थके नहीं स्पर्श
कांपती उंगलियों में
बाकी है संवेदन—(आलोक)

धूप के जल में (कविता संग्रह) **केशव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य—तीस रुपये**

उसकी भूमिका : कहानी का एक अलग संसार

□ सुभाष पंत

अवधेश कुमार के सद्य प्रकाशित कहानी-संग्रह '**उसकी भूमिका**' में छोटी-बड़ी कुल सोलह कहानियां तथा अट्ठारह लघुकथाएं शामिल हैं। कहनियों का कथ्य तथा शिल्पगत वैविध्य पाठक को सहज ही आकर्षित करता है। संग्रह की पहली कहानी 'कल'—प्रख्यात हिन्दी कहानी पत्रिका- 'सरिका' (सम्पादक—कमलेश्वर) के प्रथम नवलेखन अंक—मई 72 में प्रकाशित हुई थी। उसके पश्चात् 'प्रपात' (हंस पत्रिका) कहानी तक आते-आते कहानीकार अवधेश कुमार ने एक लम्बी कथायात्रा तय कर ली है जिसके बीच के विभिन्न पड़ावों पर उसके भीतर का कवि, नाटककार, शिल्पी और चित्रकार जाने-अजाने कहीं छूटता या कहीं पर जुड़ता चला गया है।

अवधेश की कहानियों का संसार उन संवेदनशील आदमियों के संघर्षों का संसार है जो अपनी शर्तों पर अपना एक अलग व्यक्तित्व बनाना चाहते हैं। इस संघर्ष में वे लहू-लुहान तो होते हैं पर हार स्वीकार नहीं करते। हार न मानने वाली यह यह जिजीविषा ही इन कहानियों की मूल चेतना है जो पाठक के साथ एक निजी रिश्ता कायम करती है और उसके भीतर अन्तर्दृष्टि विकसित करती है।

एकांत, पहाड़, वड़ा दिन, सचमुच परीकथा और प्रपात कहानियों में शहरी पहाड़ी जीवन के अछूते जीवन-प्रसंगों का मार्मिक चित्रण हुआ है। कल, धारावाहिक और इक्कलखोरी जैसी कहानियों में औसत निम्न मध्यवर्गीय उत्तर भारतीय परिवार की एक अलग पहचान उभरती है तो एकांत तथा असली और नकली फूलों के बीच कहानियों में बाल मनोजगत् की कोमल दुनिया उद्घाटित होती है। पानी में तैरता शलगम और अण्डा, अति यथार्थवादी संसार की कहानियां हैं तो वड़ा दिन व अंतरंग कहानियों में समकालीन युवा मानसिकता की निर्ममता से जांच-पड़ताल की गई है। अरुण का मरण, सचमुच परीकथा तथा साक्षात्कार रामकुमार जैसी कहानियों में नाटक के शिल्प का अभिनव प्रयोग किया गया है तो लगभग सभी लघुकथाओं में कविता के औज़ारों का इस्तेमाल कथ्य को और अधिक संक्षिप्त तथा पैना बनाने के लिए किया गया है। संग्रह की शीर्षक कहानी : 'उसकी भूमिका' में कथ्य की बहुस्तरीय पर्त्तें, भंगिमाएं और आयाम उभरकर समाने आते हैं जिनके माध्यम से रंगमंच और यथार्थ जीवन की दो जुदा दुनियाओं में बंटे अभिनेता अथवा सामान्य व्यक्ति की विभाजित मानसिकता और सामाजिक भूमिका का मर्म पाठकों को चिन्तन के स्तर पर उद्वेलित करता है। पठनीयता के गुण के अतिरिक्त अभिव्यक्ति की संक्षिप्ति और ठोस तथा प्रयोजनमूलक शिल्प इन कहानियों को अलग तथा विशिष्ट वनाते हैं।

इन कहानियों के चरित्रों का निर्माण कलाकार की भावुक तूलिका से हुआ है। इनके पात्र अत्यधिक संवेदनशील और परिवेश के प्रति बेहद सजग हैं। बाहर से ये जितने नाजुक दिखाई पड़ते हैं भीतर से उतने ही मजबूत हैं। लगता है इनके अन्दर एक लावा पिघल रहा है। ये कहानियां फैशन के तहत नहीं गढ़ी गई हैं बल्कि ये जीवन के साथ यात्रा करते हुए बटोरी गई निर्मम सच्चाइयों के टुकड़े हैं जिन्हें कोई अति संवेदनशील कलाकार ही पकड़ सकता है, खासकर वह जिसके पास जिन्दगी की समझ और सूक्ष्म दृष्टि हो। ये कहानियां किसी भी स्तर पर अतिरेक का शिकार नहीं होती और न ही परिवर्तन के लिए अतिरिक्त गुस्से का इज़हार करती हैं। तमाम लिखी जाने वाली कहानियों से ये अलग इसीलिए दिखाई पड़ती हैं कि जितनी ये कागजों पर लिखी गई हैं उससे कहीं अधिक कागजों से उतरकर पाठक की अन्तश्चेतना में, राख में दबी चिंगारी की तरह, अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहती हैं।

उसकी भूमिका (कहानी संग्रह) : **अवधेश कुमार,** प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

सुदीर्घ परंपरा का आभास

☐ हरिश्चन्द्र राय

किस कलाकार की प्रतिभा कब प्रस्फुटित हो उठेगी और किन परिस्थितयों में, इन तथ्यों पर आज के युग में बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शोध होने के बावजूद कोई निश्चित बात कह पाना कठिन है। शिमला के कला महाविद्यालय में अध्ययन और शिल्प-साधना में संलग्न तरुण सुरजीत सिंह जब अपना पांच वर्षों का पाठ्क्रम पूरा करने जा रहा था उन दिनों उसके हाथ से रोज ही अनेक सर्जनात्मक रेखांकन निकलते हुए देख कर यही लगता था कि उसके अन्दर बाल्यकाल से ही भावना और साधना घनीभूत होकर एक हिमखण्ड जैसी अज्ञात पड़ी हुई है जो परिवेश के अनुकूल तापमान को प्राप्त कर कला धारा के रूप में प्रवाहित हो रही है।

सितम्बर, 1947 में जन्मे सुरजीत का बचपन शिमला जिला के जुंगा में बीता। जहां इनके पिता पुलिस विभाग में कार्यरत थे। परिवार की महिलाओं को दरियां बुनते और कशीदाकारी करते देख उनके नमूनों के सरल रूपांक और चटक रंग सुरजीत के आकर्षण के केन्द्र बने रहते और जैसे-जैसे किशोरावस्था को प्राप्त करता हुआ यह भावी कलाकार अपने परिवेश में बिखरे पड़े रंग और रूप को अपने सौन्दर्यग्राही चक्षुओं और मन-मस्तिष्क से ग्रहण करता गया, वैसे-वैसे उसमें सर्जना के अंकुर खिलते गए। राजा जुंगा के महल के झाड़-फानूसों के टूटे शीशे के टुकड़ों में से दुनिया को सतरंगी रेखाओं से मंडित देख-देख कर उसकी जिज्ञासा तृप्त ही नहीं हो पाती थी। पुलिस लाइन्स में दर्जी, बढ़ई, लोहार, पेंटर, माली आदि अनेक प्रकार के व्यवसायी कार्य करते थे और सभी के शिल्प को देखकर सुरजीत कौतूहल से परिपूर्ण रहता। लकड़ी रन्दने से जो वर्तुलाकार रन्दन निकलता उसको खोलकर एक बार चूड़ी की तरह अपने एक बाजू पर पूरा लपेटते-लपेटते सबको आश्चर्यचकित कर दिया। परन्तु जब उसमें दरार पड़कर वह टूट गया तब सुरजीत को इतनी ही पीड़ा पहुंची थी जैसे किसी मूर्तिकार को उसकी विशालकाय मूर्ति के भंग हो जाने पर होती होगी। जो पेंटर सिपाहियों के संदूकों को रंगते थे और कुछ फूल-बूटे और दृश्य बनाकर उन पर नाम लिखते, सुरजीत को उनसे ही कला की आरंभिक शिक्षा मिली। मौलवी साहब जब ठहाका मारकर हंसते, या मास्टर साहब क्रोध से आंखें लाल-पीली करते, इसी तरह की अन्यान्य चेष्टओं के प्रभावों को अभिव्यक्ति मिलती उन रेखांकनों और कार्टूनों में जिन्हें अभ्यास पुस्तकों पर बनाने के कारण घर और पाठशाला दोनों ही जगह बेचारे को दण्ड मिलता। परन्तु इस मारपीट से उसका कला के प्रति ढीठपन और बढ़ता ही जाता। राजा के तालाब में कमल, रंग-बिरंगी मछलियां और काई में बनते बिगड़ते रूपांक इसे स्तब्ध कर देते। चौथी कक्षा में ही अपने स्कूल के insignia को रंगा था। संगीत का प्रेम इसे ड्रम बजाने

के लिए प्रेरित करता और फिर नाटियों में रूमाल और दरांती लेकर तरह-तरह की भाव-भंगिमा में नृत्य करना—यही सब विद्यार्थी जीवन के वे प्रभाव हैं जो सुरजीत की कला में आगे चलकर प्रस्फुटित हुए हैं।

जुंगा से शिमला आकर जब डी० ए० वी० स्कूल में आठवीं कक्षा में प्रवेश लिया तो अंग्रेज़ी विषय कमजोर होने के कारण परीक्षा का दाखला भरने से शिक्षक ने इनकार कर दिया था। परन्तु ब्लैक-बोर्ड पर सुरजीत के द्वारा बनाए एक चित्र को देखकर शिक्षक महोदय ने प्रसन्न होकर उसे परीक्षा में बैठने से नहीं रोका। यह स्कूल लक्कड़ बाजार में होने के कारण वहां तरह-तरह की लकड़ी की आलंकारिक वस्तुएं चित्रित की जातीं थीं। अपने खाली समय में सुरजीत ने भी यह कार्य करना शुरू कर दिया और पहली बार जब चार प्लेटों को चित्रित करने के लिए दो रुपये पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त किए तो इतनी अधिक खुशी हुई कि भागे-भागे घर जाकर अपनी मां को यह दो रुपये पहली कमाई के रूप में बड़े गर्व से दिए, जिनमें तीन रुपये और मिलाकर मां ने पांच रुपये के लड्डू सारे मुहल्ले में बांटे। इस प्रकार दसवीं कक्षा तक पहुंचते-पहुंचते सुरजीत ने निश्चय कर लिया कि भविष्य में उसने कलाकार ही बनना है। इन्हीं दिनों पंजाब के प्रसिद्ध कलाकार शिव सिंह का शिमला आना हुआ। उन्हें भूदृश्य चित्रित करते देख कर यह भावना और भी प्रबल हो गई और स्कूली शिक्षा पूरी करके नाहन के कला महाविद्यालय में प्रवेश ले लिया।

जैसा कि प्रत्येक कल्पनाशील तरुण के साथ होता है कि वास्तविकता पूर्वधारणाओं की अपेक्षा नितान्त फीकी लगती है, सुरजीत को भी कला महाविद्यालय में आकर विशेष सन्तोष नहीं मिला। पोर्टरेट बनाने के शौक में वरिष्ठ विद्यार्थियों की सहायता उपयोगी रही। इस मध्य महाविद्यालय को सरकारी आदेशानुसार नाहन से शिमला स्थानान्तरित किया गया परन्तु असन्तोष के कारण सुरजीत ने चण्डीगढ़ कला महाविद्यालय जाकर तृतीय वर्ष में प्रवेश ले लिया। परन्तु वहां इन्हें बहुत ही अजनबीपन महसूस हुआ। इस कारण चण्डीगढ़ में तीन महीने बिताने के बाद सुरजीत पुनः शिमला वापस आ गए। यहां आकर कठोर कला साधना का प्रण लेकर रोज एक ड्राइंग बनाना, दिन रात अभ्यास में संलग्न रहना और संसार की गतिविधि से पूर्णतः उदास रहना यही इस कलाकार का जीवन बन गया। वक्ष में सर्जना की ज्वाला धधक-धधक कर और मनोनुकूल अभिव्यंजना न पाकर उसको जीर्ण-शीर्ण कर रही थी। इसी दौर में किसी भावात्मक आघात के कारण आत्महत्या के कगार तक भी पहुंच कर लौट लिया। जो भी हो, आशा मिली हो या निराशा, यही वह काल था जब सर्जनात्मक रूप से सुरजीत का व्यक्तित्व बहुत ही फलीभूत रहा। इस समय के रेखांकनों को देखकर सुरजीत को आन्तरिक अनुभूति और वाह्य प्रभावों के साथ ताल-मेल बैठा पाना संभव नहीं लगता। यद्यपि सभी चित्रों में मानवाकृतियों को ही महत्व दिया गया है परन्तु मुहावरे की वैयक्तता और रेखाओं की सशक्तता के साथ रूप का सौष्ठव सुरजीत की इस समय की कला को देश के श्रेष्ठ कलाकारों के समकक्ष ला रखते हैं। एक ओर महाविद्यालय के प्राध्यापकों से आलेखन और रंजन का प्राविधिक प्रशिक्षण, दूसरी ओर प्रखर आन्तरिक अनुभूति दोनों ने मिलकर सुरजीत के कलागत भविष्य की दृढ़ नींव डाल दी और पांच वर्ष के प्रशिक्षण के बाद डिप्लोमा प्राप्त करके इतना आत्मविश्वास आ गया था कि कला जगत् में किसी भी प्रकार के कार्य में हार नहीं मिलेगी।

प्रत्येक युवा स्नातक के समान सुरजीत के सामने भी जीवन की खाली कैन्वास पर नए

रूप और रंग भरने की अभिलाषा थी। उसकी कला-चेतना के साथ एक सौन्दर्य-चेतना-शून्य समाज की अवहेलना के पारस्परिक संघर्ष से कलाकार का व्यक्तित्व निखर रहा था फिर बिगड़ रहा था इसका निर्णय तो सुरजीत की आज की निखरती हुई कला को देख समझ कर अनायास किया जा सकता है। अपने कार्य के बलबूते पर रोजी-रोटी की समस्या ने इन्हें कभी नहीं सताया। इधर-उधर कुछ समय भटकने के बाद इन्हें हिमाचल के हस्तशिल्प बोर्ड में डिज़ायनर का पद मिल गया। यहां विभिन्न हस्तशिल्पों की प्राविधिक और क्रियात्मक जानकारी के साथ-साथ शैल्पिक सौन्दर्यबोध, दोनों ही क्षमताओं की नितान्त अपेक्षा रहने के कारण सुरजीत की कला में भाव-प्रवणता के साथ-साथ शैल्पिक कौशल का बहुत विकास हुआ। यहां के अनुभव से सम्पन्न होकर इन्हें पजाब सरकार के Design centre में सह-निदेशक का पद प्राप्त हुआ जिसका मुख्यालय चण्डीगढ़ के कला महाविद्यालय के परिसर में ही है। चण्डीगढ़ पहुंचकर सुरजीत के जीवन ने एक बिल्कुल नया मोड़ लिया। सर्जना के नए-नए आयाम सामने आए और अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए प्रचुर अवसर प्राप्त हुए। चण्डीगढ़, दिल्ली और पंजाब की अधिकांश प्रदर्शनियों में अपने चित्र बराबर भेजते रहे परन्तु सर्जना में पूरी लग्न, कौशल और ईमानदारी के होते हुए भी न तो कोई पुरस्कार मिला, न कोई कलाकृति बिकी, और न ही प्रेस में सराहना मिली। एक साधनारत उदीयमान कलाकार के जीवन में ऐसी निराशा कितनी विनाशकारी हो सकती है इसका अनुमान तो वे लोग ही लगा सकते हैं जिन्होंने ऐसे कटु-अनुभवों का सामना किया हो। परन्तु यह भी एक अनुभूत सत्य है कि प्रत्येक अंधकार में कोई प्रकाश की रेखा भी निहित रहती है। सब तरफ से हार और झक मारकर मन में यह विचार आना स्वाभाविक ही था कि इस असफलता का कारण क्या है? जगमोहन चोपड़ा, जो कला महाविद्यालय के प्राचार्य है, इनका नाम पंजाव और चण्डीगढ़ की निर्णायक समितियों में सदैव होता था। सुरजीत अपनी जिज्ञासा को लेकर इनके पास पहुंचा कि क्या कारण है कि साधना, कौशल और सच्चाई सबके होते हुए भी मेरी किसी कलाकृति की सराहना कहीं नहीं होती।

जगमोहन चोपड़ा एक जाने-माने कला आचार्य हैं। चण्डीगढ़ कला महाविद्यालय के प्राचार्य पद को ग्रहण करने से पहले अनेक वर्षों तक दिल्ली के कला महाविद्यालय में 'ग्राफ़िक्स (मुद्रचित्रण) के प्राध्यापक रहे थे और कला-जगत के सभी उतार चढ़ावों से भली भांति परिचित थे। क्रियात्मक रूप से तो सुरजीत को इनसे कुछ नया सीखने को था नहीं परन्तु प्रत्येक विद्या को संसार में ग्राह्य होने के लिए उसके अन्यान्य पक्षों के अतिरिक्त बाजार की नब्ज़ पहचानने की कला भी आवश्यक होती है। यह सूझ-बूझ इनसे अच्छी कौन दे सकता था और इनके सदभावनापूर्ण आदेशों का सुरजीत ने अक्षरशः पालन करते हुए कला-जगत में अपना एक सम्मानीय स्थान बना लिया। अब तो प्रत्येक प्रदर्शनी में पुरस्कृत होना कलाकृतियों का बिकना और प्रेस में सराहना मिलना सुरजीत के लिए साधारण-सी बात हो गई। दिशा निर्देशन और पथ-प्रदर्शन के लिए तरसते हुए साधक को तो मानो खजाने की चाभी मिल गई और यही कारण है कि सुरजीत जगमोहन चोपड़ा का एक महान कला-गुरु के रूप में आदर सत्कार अभी तक करते हैं।

जहां तक पुरस्कारों का सम्बन्ध है। सुरजीत को अब तक देश व विदेशों के लगभग एक दर्जन सम्मानित पुरस्कार मिल चुके हैं। जिनमें विशेष उल्लेखनीय आल इण्डिया फ़ाइन आर्टस

एण्ड क्राफ्टस् सोसाइटी, नई दिल्ली; इण्डियन एकेडेमी ऑफ फाइन आर्टस, अमृतसर, पंजाब ललित कला अकादमी और हिमाचल प्रदेश के राजकीय पुरस्कार हैं। सुरजीत की कला में ऐसा कुछ अवश्य है जो इन्हें अन्य कलाकारों से भिन्न ठहराता है। उपर्युक्त विवरण के आरम्भ में ही संकेत किया गया था कि इनके कृतित्व की प्रचुरता बहुत गहरे शोध की अपेक्षा रखती है। यह एक साधारण बात तो नहीं है कि एक कला विद्यार्थी अपने प्रशिक्षण काल में ही निरन्तर ऐसी drawings की सर्जना करता चला जाए जैसी कि कोई अत्यन्त परिपक्व वरिष्ठ कलाकार ही कर सकता हो। इस पर यह और भी आश्चर्य का विषय है कि इन चित्रों को देख कर ऐसा लगता है कि किसी सुदीर्घ परम्परा का परिपक्व परिणाम हो, जबकि यह कला-धारा सुरजीत के अन्तस् से ही निकली है। और जिस परम्परा में इन्होंने प्रशिक्षण प्राप्त किया है, रूपात्मक दृष्टि से उसकी बहुत कम छाप इसमें दिखाई देती है। इन चित्रों को अवतरित हुआ कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

सम्प्रति सुरजीत हिमाचल प्रदेश सरकार के भाषा-संस्कृति विभाग में वरिष्ठ कलाकार के पद पर कार्यरत हैं और अपने अर्जित अनुभव हिमाचल की कलागत विधियों में इनके आने से अवश्य कुछ सार्थक हो सकता है।

[29, ब्लाक 3, यू० एस० क्लब, शिमला-171001]
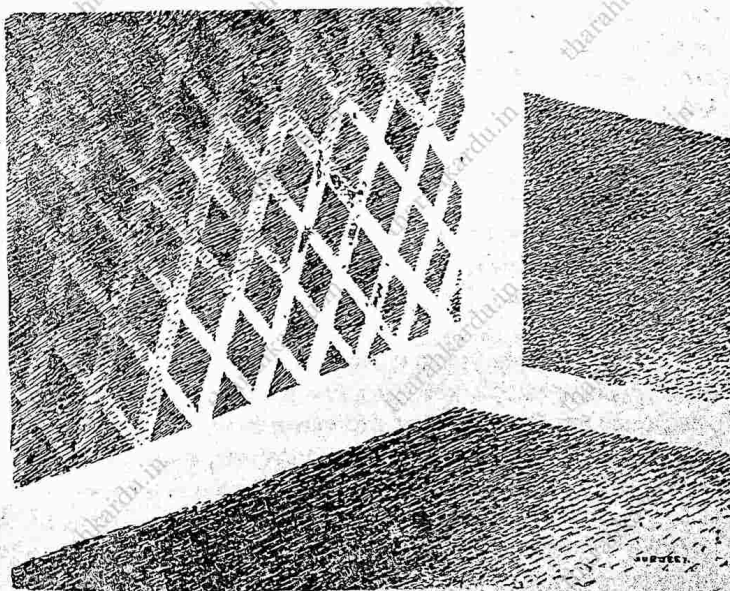
अब कहां जाना है !

▣ तुलसी रमण

वह पिछले जून की एक उत्सुक-सी सुबह थी। शिमला में विक्टरी टनल के पास आकर रुकी बस से एक-एक कर उतर रहे थे—चन्द्रकांत देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, कमला प्रसाद, भगवत रावत, सत्येन कुमार, मंजूर एहतेशाम, राजेश जोशी, नरेन्द्र जैन, शशांक और पूर्णचन्द्र रथ। व्यक्तिगत तौर पर इनमें किसी से भी मेरा परिचय नहीं था। रचनाओं के माध्यम से लगभग सभी जाने-पहचाने थे और कुछ लोगों को छपते रहे छाया-चित्रों की स्मृति से भी पहचान पा रहा था। खैर…एक-एक से परिचय हुआ और वाहनों में होटलों तक पहुंच गये। पहली सुबह नाश्ता काफी हाऊस में लिया और दिन भर 'जागरे' के लोगों की तरह सब सोते रहे। अशोक वाजपेयी भी अलग से शिमला पहुंच गये थे और अजीत चौधरी, ध्रुव शुक्ल व प्रभात त्रिपाठी को बाद में पहुंचना था लेकिन इनमें से अजीत चौधरी व ध्रुव शुक्ल ही पहुंच पाये थे। पहले डॉ॰ शिवमंगल सिंह सुमन के आने की भी सूचना थी लेकिन उनका आना संभव नहीं हो सका था।

हिमाचल प्रदेश की सप्ताह भर की सृजनानुभव यात्रा के लिए शिमला पधारे मध्यप्रदेश के इस साहित्यकार दल में अधिकांश कवि ही थे। लेकिन अशोकजी के शब्दों में ही कहें तो 'सौभाग्य से वे लोग भी शामिल रहे जो कविता नहीं लिखते।' उनकी यह टिप्पणी कथाकार सत्येन कुमार, मंजूर एहतेशाम व शशांक तथा आलोचक कमला प्रसाद पर जाकर फोकस करती रही। मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् के सचिव श्री सोमदत्त अपने पत्र में पहले ही यह बात स्पष्ट कर चुके थे कि दल में विभिन्न विधाओं, अलग-अलग पीढ़ियों और विचारधाराओं के लेखक शामिल रहेंगे।

हिमाचल में इस दल की यात्रा के उपलक्ष्य में शिमला, मंडी तथा धर्मशाला में ऐसे साहित्यिक आयोजन रखे गये थे जिनमें दोनों प्रदेशों के कवियों को एक मंच पर कविता पाठ करना था और पारस्परिक संवाद के लिए खुली विचार-चर्चा भी आयोजित की गयी थी। इसके अतिरिक्त शिमला के आस-पास के स्थलों; बिलासपुर, मंडी, कुल्लू-मनाली व कांगड़ा के दर्शनीय अंचलों व सांस्कृतिक स्थलों की यात्रा भी इसमें शामिल थी।

ग्यारह जून की शाम शिमला के बचत भवन में पहला कार्यक्रम साहित्यकारों के पारस्परिक परिचय और कविता पाठ का था। घूमने के लिए पूरा दिन हमारे पास था। कुछ लोग कुफरी-फागू तक निकल चले थे और कुछ की रुचि नगर के अहाते में ही रहने की थी। देवदार और सेब के पेड़ों में कवियों की विशेष रुचि रही—एक देवतरु ठहरा और दूसरा सेब-

राज्य का गौरव वृक्ष। दूर की पर्वत मालाओं में 'दृष्टि के विस्तार' के साथ फागू में दोपहर का भोजन लिया और दोपहर बाद वापिस लौट आये।

शिमला के साहित्यिक माहौल में सप्ताह भर से हरकत थी। अतिथियों के प्रति सम्मान और उत्सुकता का भाव इस शहर में अभी भी कुछ-कुछ गांवों की तरह बना हुआ है। आखिर यह तो रेवा, नर्मदा के देश से और उससे भी बढ़कर 'सांस्कृतिक हलचल वाले आज के मध्यप्रदेश' से प्रमुख सृजन धर्मियों का अपने शहर में आना था। बचत भवन का हॉल खूब भर गया था। लेखकों के परिचय के साथ ही कवि, आलोचक अशोक वाजपेयी की अध्यक्षता में कविता-पाठ शुरू हुआ जिसमें लगभग बीस कवियों ने अपनी कविताएं पढ़ीं। अतिथि कवियों के साथ हिमाचल के श्रीनिवास श्रीकांत, सत्येन्द्र शर्मा, अनिल राकेशी, ज़िया सिद्दीकी, केशव, ओमप्रकाश सारस्वत, महाराज कृष्ण काव, रेखा, अवतार एनगिल और कुमार कृष्ण आदि ने अपनी कविताएं सुनायीं। उसके बाद सड़कों पर टहलते, कमरों में बैठे हुए और खाते-पीते बराबर चर्चा चलती रही, जिसमें रचनात्मक सवालों से लेकर हंसी-मज़ाक तक और भूख व गरीबी से लेकर सुथरी अभिरुचियों तक सब कुछ शामिल था। विनोद कुमार शुक्ल की बहुत कुछ बोलती हुई खामोशी थी, देवताले और भगवत रावत की प्रौढ़ता में भी नौजवानों-सा खुलापन था, कथाकारों का धीरज लिए सत्येन और मंजूर की दोस्ती की ललक थी, अपनी मुहिम के प्रति कमला प्रसाद की सक्रिय ईमानदारी थी, हल्की दाढ़ी के बीच फूटती राजेश जोशी की मंद मुस्कान थी और इस सबके बीच अशोक वाजपेयी की लगभग सुनियोजित चुटकियां।

बारह जून की सुबह लेखकों को खुली विचार चर्चा के लिए फिर बैठना था। खुली इस अर्थ में कि कोई भी विषय नहीं खा गया था। अपने समय की रचनात्मकता को लेकर जिसके जेहन में जो सवाल सबसे ऊपर आ गये थे उन्हें ज़ेरे बहस रखा जा सकता था। और इस बहस की शुरुआत अशोक जी के वक्तव्य से हुई जिसमें उन्होंने कला के विभिन्न अनुशासनों और रचना व रचना-धर्मिता को लेकर लगभग वही सवाल उठाये जिनके जवाब 'पूर्वग्रह' में बराबर मिलते हैं। बहस में काफी लोगों ने भाग लिया और बात सोच के अलग-अलग जलाशयों में हमेशा की तरह डुबकियां लगाती रही। लेकिन इससे यह भी साफ होता गया कि कौन जलाशय किसका तीर्थ है, और वे लोग भी सहज ही पहचान में आते रहे जो पर्यटक-मुद्रा में घाट-घाट घूमते रहते हैं। मजूर एहतेशाम की ज़ुबान में कहें तो इस बैठक के अध्यक्ष महाराज कृष्ण काव ने अपने वक्तव्य के रूप में 'अमन का कबूतर' उड़ाते हुए चर्चा का समापन किया।

इसी रात 'होटल होली डे होम' में हिमाचल के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्री श्री सागरचंद नैयर ने साहित्यकारों को रात्रि-भोज के लिए आमंत्रित किया था। इस मौके पर कविताओं के अतिरिक्त कुछ लोगों ने अपने-अपने क्षेत्रों के लोक गीत भी गाये। मंत्री जी ने अपना प्रिय गीत 'सायं सायं मत कर रावीएऽ....' गाया और ध्रुव शुक्ल ने अपने अंचल की नदी 'बेतवा' को अपने कंठ से जैसे उड़ेल दिया। 'बेतवा रे ऽ'—अपने बचपन की नदी के प्रति एक कवि का यह स्वर। बिलासपुर में सतलुज(शतद्रु)पार की हो या मंडी से लेकर मनाली तक व्यास (विपाशा) के आर-आर रहे हों, मेरे मन में बराबर गूंजता रहा यह नदी का गीत। मेरी स्मृति में अब भी ध्रुव शुक्ल 'बेतवा रे ऽ' की लय के साथ ही उतरते हैं।

हिमाचल में यह एक रिवाज़ ही बन गया है कि प्रदेश में पधारने वाले हर अतिथि के सिर पर हिमाचली टोपी पहना दी जाती है। एक तरह से यह खूब सारी इज्जत देने जैसा ही

है। लेकिन लेखकों के मामले में 'टोपी पहनाने' का यह प्रकरण कुछ दूसरा रूप ले लेता है। शायद यह भी एक कारण था कि दो साहित्यकार इस रात्रिभोज से गायब रहे। संभवतः उन्हें लगा हो कि टोपी सिर पर सजते ही विनोद कुमार शुक्ल कह सकते हैं—कि 'वह चला गया टोपी पहिन कर विचार की तरह।' हिमाचल के इन रीति-रिवाजों से परिचित सत्येन कुमार बाद में केशव की साक्षी में मजूर से कहते फिरे—तुलसी से पूछो किस-किस को पहनायी टोपी! खैर यह हर तरह की टोपी से परे का दौर था, जिसका देर रात तक चलते रहना साहित्य और कला की दुनिया में किसी से नहीं छिप सका है।

तेरह जून का पूरा दिन इस यात्रा में काफी कुछ कसैला दिन था। मंडी के लिए सुबह 8 बजे चलने की बजाय दस बजे चल सके। इन दिनों राजनीति के रथ देश के कुछ भागों में विचर रहे थे। हमें पता भी न चला कि हमारी तीनों टैक्सियां कब तीन रथों में तब्दील हो गई और इनमें से एक रथ पर साहित्यकार दल के (पूर्णचन्द्र) रथ स्वयं सवार थे। हुआ यह कि एक रथ का पहिया इस कदर थिसक गया कि दो घंटे देर हो गई। उधर मंडी में पहले से ही अलग-अलग रथों के चक्र कसे जा रहे थे। इसमें कुछ स्थानीय देगची की खदबदी थी तो कुछ हिन्दी साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य के साथ 'जन' और 'प्रगति' के बीच का वाद-विवाद। मंडी पहुंचने में हमें इतनी देर होगई थी कि काव्य पाठ और विचार-चर्चा में से केवल एक सत्र की ही गुंजाइश रह गई थी। विभागीय अधिकारी डा० विद्याचन्द ठाकुर और दीनूकश्यप, नरेश पंडित व प्रकाश पंत आदि स्थानीय लेखकों ने अतिथियों के लिए 'मंडी का खाना'—सेपू बड़ियां, लिंगड़ की शब्जी, कुछ विशेष दालें और कई तरह के चावलों सहित तैयार किया था। देर से हुए भोज पर ही स्थानीय साहित्यकारों व कुछ दूसरे लोगों से अतिथि लेखकों का परिचय हो पाया। एक कथाकार से पांत में बैठे एक पंडित ने आखिर नाम पूछ ही लिया। जबाब मिला—मजूर एहतेशाम! पंडित जी थोड़ा खिसकने लगे तो मजूर ने मुझे हल्का-सा संकेत करते हुए आगे कहा—'लेकिन नमाज़ पढ़ने का वक्त नहीं मिल पाता।' पंडितजी भांप गए और मीठे चावलों का इन्तजार करने लगे।

शाम को गांधी-भवन में कविता पाठ हुआ। अध्यक्षता के लिए विनोद कुमार शुक्ल बहुत मुकरते रहे लेकिन अन्ततः उन्हें राजी होना ही पड़ा। दरअसल यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से

आया था और विनोद जी के मन में यह 'सर्व सम्मति' ही संशय की तरह मडराने लगी थी। अतिथि कवियों के साथ सुन्दर लोहिया, वरयामसिंह, दीनू कश्यप, प्रकाश पन्त, प्रफुल्ल कुमार, योगेश्वर शर्मा, दिनेश धर्मपाल, यादवेन्द्र शर्मा तथा राजकुमार राकेश आदि ने अपनी कविताएं पढ़ीं। बीच में ही 'परिचर्चा वाला सत्र' विषकंभक की तरह आन पड़ा जिससे कमला प्रसाद से लेकर मजूर तक जूझते रहे।

चौदह जून की सुबह ही हम कुल्लू घाटी के लिए रवाना हो गए। बजौरा और कुल्लू के ढालपुर में थोड़ा रुकने के बाद निकोलाई रोरिक के गांव नग्गर पहुंचे। रोरिक आर्ट गेलरी के बाहर विनोद जी ने मुझे अलग ले जाते हुए कहा—यहां हम देर तक रुकेंगे। वर्ना वह बोलते कम और झेलते ज्यादा थे। थोड़ी-सी दही और किसी विश्राम गृह वाली जगह पर घड़ी भर रुकने के लिए वह चाहते हुए भी नहीं कह पाते थे।

खैर, सत्येन जी के कैमरे ने यहां कुछ चित्र लिए और हम लोग तब तक रुके जब तक नरेन्द्र जैन ने यह नहीं पूछ लिया कि—'अब कहां जाना है ?' नरेन्द्र जैन को मैंने बराबर प्रकृति में डूबते देखा। हर बार उन्हें चलने के लिए ढूंढ़ लाना पड़ता और उनके मुंह से यह सूत्र वाक्य अनायास निकल पड़ता—'अब कहां जाना है ?' इस बात का जवाब कम से कम कुल्लू घाटी में मेरे पास कम और सत्येन जी के पास ज्यादा रहता था, जिन्होंने कई बार आकर हिमाचल को करीब से देखा था। उसके बाद 'वशिष्ठ गांव' गए और कुंड में बहुतों ने स्नान किया। पूर्ण चन्द्र रथ की सारी थकान इसी स्नान से उतरी थी यह मुझे अब भी याद है। मनाली में हिडिम्बा के चरण देखे तो सबसे पहले अजीत चौधरी को मध्यम पांडव याद आए। कुछ देर देवदारों में बांहें डालीं तो भगवत रावत के पेट के चीरे फिर दर्द सुनाने लगे थे।

मनाली में भोजन के बाद चलने को तैयार हुए तो कुल्लू का एक देवता अपनी प्रजा के साथ डम-डम निकल रहा था। ध्रुव शुक्ल देव-धुन में खोए देखे गए और कमला प्रसाद की नजर नगारा उठाने वाले के नंगे पांव पर जा टिकी थी। सत्येन ने एक और स्नेप लिया। मजूर हंस दिए, और शशांक ने राजेश जोशी का बाजू पकड़कर पीठ फेर दी। ड्राइवर ने इस बीच कहा—मणिकर्ण काफी दूर है, चलना चाहिए।

मणिकर्ण की शाम पहाड़ की बगल में कहीं गहरी सी शाम थी। कुछ लोगों ने अपनी

डायरियां निकाल लीं थीं—समय को दर्ज करने के लिए। कुछ चिट्ठियां लिख रहे थे—रेवा, नर्मदा और बेतवा के नाम—पार्वती के गांव से।

पन्द्रह की सुबह मणिकर्ण के कुंड में जमकर नहाए, जहां पार्वती के कान से मणि छूट गई थी। मजूर पहले कुछ वैसे ही शरमाए जैसे मैं कहना नहीं चाहता। बोले—'कभी नहीं नहाया नंगा खुले में।' वाह! कथाकार और ढके हुए? आखिर इतना नहाए, इतना नहाए, कि भूखे हो गए और चलने से पहले ही गोबर में गंदुम का दाना उतना बड़ा दिखाई दिया जितना कुल्लू की लोक कथाओं में अक्सर दीखता है।

दोपहर का खाना लौटते हुए मंडी में खाया और बैजनाथ व पालमपुर आदि जगहों पर रुकते हुए देर रात धर्मशाला पहुंच गए। सोलह की सुबह चन्द्रकान्त देवताले की अध्यक्षता में विचार गोष्ठी और शाम को भगवत रावत की अध्यक्षता में कविता पाठ हुआ। दिन में दलाई-लामा के निवास और निकट के गांव तक गए। 'स्वर्गाश्रम' में एक लोक नाट्य का पूर्वाभ्यास भी देखा। धर्मशाला के आयोजन में सुशील कुमार फुल्ल, सतीशधर, अरविन्द रंजन, गौतम व्यथित, वेदप्रकाश अग्नि, पीयूष गुलेरी और प्रत्यूष गुलेरी आदि ने भाग लिया।

मौन साधे लामा की तरह चले आ रहे सत्येन कुमार ने आखिर इस जगह आकर अपना मौन तोड़ा। धर्मप्रचार से टलते हुए यहां यही कहूंगा कि रात तक अशोक वाजपेयी भी धर्मशाला पहुंच चुके थे। होटल धौलापुर में 'सृजनानुभव यात्रा' की यह आखिरी शाम थी—कुछ भरी-भरी शाम।

सत्रह की सुबह विभागीय जिला अधिकारी सुखदेव शर्मा ने हमें विदाई दी और नाश्ता ज्वाला जी में शायर कृष्णकुमार 'तूर' के पास लिया। ज्वाला जी के दर्शन किए और दोपहर का भोजन ऊना में बहुत जल्दी में लिया। यह यात्रा का पंजाब से जुड़ने वाला अंतिम छोर था। 'देवताओं के देश' से उतरकर अपने देश को फिर से महसूसने लगे थे रचनाकार। साहित्य की दुनिया के जुझारुओं पर धीरे-धीरे आतंक अपना असर दिखा रहा था। निर्भीक लेखक के भीतर भी कहीं भय से कांपते प्राण रहते हैं यह बात एक बार फिर साबित हो रही थी।

साहित्य की सारी बहसें थम गयीं थीं। हम पंजाब की धरती से गुज़र रहे थे। चंडीगढ़ तक पहुंचने तक केवल एक टैक्सी की पीठ पर फटता हुआ पोस्टर शेष था—'मध्य प्रदेश के लेखकों की हिमाचल यात्रा।'

रात के दस बज चुके थे। कुछ लोग वहीं ठहरे और कुछ अंबाला तक निकल गए थे। यह विदा की रात थी। दस बजे के बाद तीन खाली गाड़ियों में, हम और परमदेव, दो जने लौट रहे थे। नरेन्द्र जैन का वह एक वाक्य फिर से हवा में ठहर गया था—'अब कहां जाना है!'

ऊषा अनिरुद्ध चित्र-सीरीज़-कथा

गतांक में आपने पढ़ा है कि जब गरुड़ ने शोणितपुर पर पानी की बौछारें डाल दीं तो अग्नि पराजित हो गया। लेकिन बाण ऐसी स्थिति में भी संघर्ष का आनन्द ले रहा था। उसकी सेनाएं अपने शत्रुओं को मार गिराने के लिए हर स्तर पर सक्रिय थी। दोनों से घमासान युद्ध का यह चित्र सामने दर्शाया गया है। क्रमशः

बाण की सेना की पराजय

भूरी सिंह संग्रहालय चंबा में संग्रहीत उषा-अनिरुद्ध सीरीज (1770-1775) का अठारहवां चित्र

VIPASHA-18 JAN.-FEB. -1988 R.N. 42497/85 PRICE : Rs. 2/
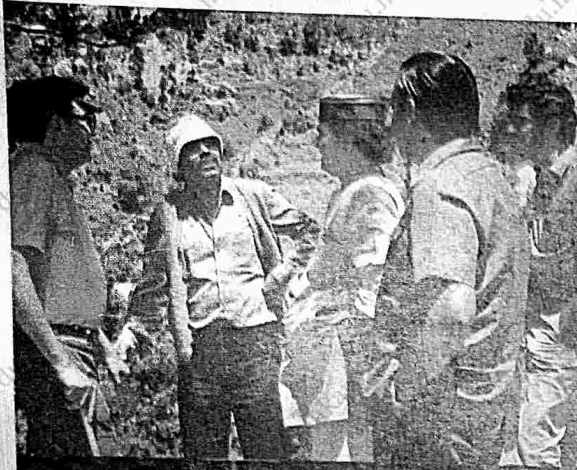
मंजूर एहतेशाम, देवताले, भगवत रावत, अजीत चौधरी
राजेश जोशी, शिमला-मंडी मार्ग पर

मंडी तथा शिमला में गोष्ठियां
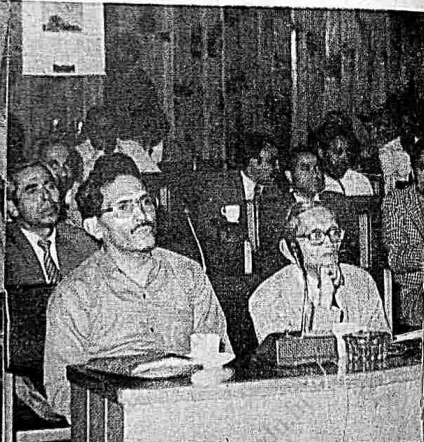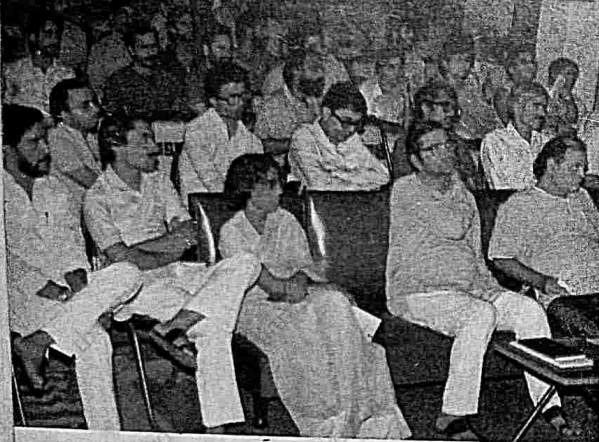
विनोद कुमार शुक्ल, पूर्णचन्द्र रथ, देवताले, शशांक,
नरेन्द्र जैन, मंजूर एहतेशाम, तुलसी रमण
वशिष्ठ व मणिकर्ण में स्नान

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, त्रिशूल, शिमला-१७१००३ द्वारा
प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली नं. ११, विश्वासनगर दिल्ली-३२ द्वारा मुद्रित।